विकासात्मक अध्यात्म

(Evolutionary Spiritualism)

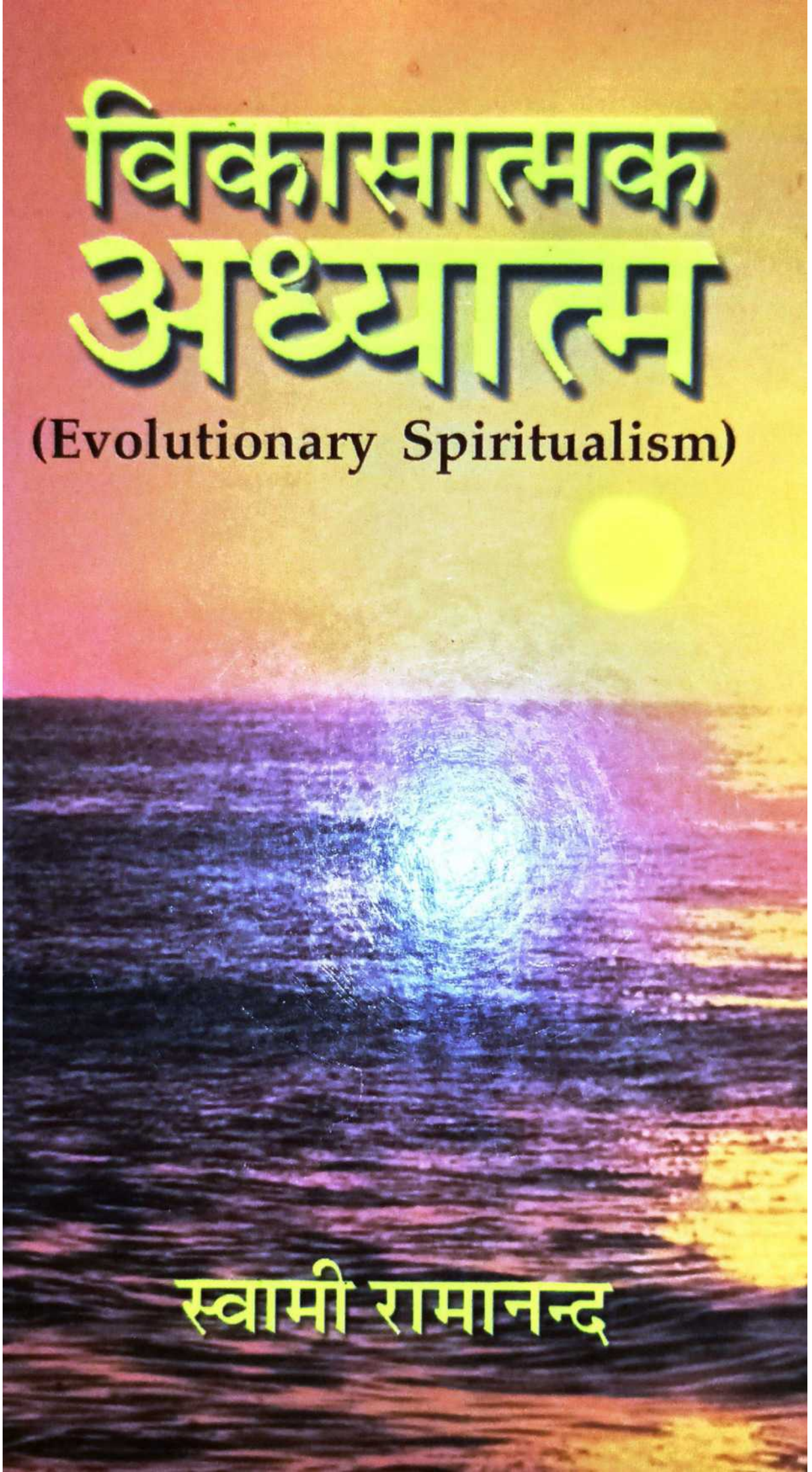

स्वामी रामानन्द

विकासात्मक अध्यात्म

(Evolutionary Spiritualism)

स्वामी रामानन्द

साधना-परिवार
स्वामी रामानन्द साधना-धाम
संन्यास रोड़, कनखल (हरिद्वार)

प्रथम संस्करण 2007

श्री रामनारायण गुप्त द्वारा
स्वामी रामानन्द जी की Evolutionary Spiritualism का हिन्दी अनुवाद

मूल्य: रु. 65.00

मुद्रक
रैकमो प्रैस प्राइवेट लिमिटेड, सी-59, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया फेज़-I,
नई दिल्ली-110020
दूरभाष: 011-26810424, 26814886, 26816282

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ संख्या
	प्राक्कथन	7
	प्रकाशक की ओर से	9
	सम्पादकीय निवेदन	11
1.	हमारा सिद्धान्त	13
2.	परम सत्ता	26
3.	परमेश्वर	36
4.	भगवान	40
5.	विकास की समस्या	44
6.	विकास की प्रक्रिया	51
7.	प्राण	59
8.	प्राण का विकास	67
9.	इच्छा तत्व	75
10.	आध्यात्मिक विकास और समाज	81
11.	मानवीय विकास	91
12.	अतिमानुषी विकास	101
13.	प्रेम चरम उपलब्धि	111
14.	विकास के नियम	118
15.	पुनर्जन्म	128
16.	कर्म	139

जीवन की सार्थकता को समझने की सच्ची लगन और इसका सर्वोत्तम उपयोग करने की सत्यनिष्ठ कामना, और अपने चारों ओर के जीवन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण जागरूकता इस बात के संकेत हैं कि व्यक्ति विकास के लिए सचेतन आत्म-प्रयास के पथ पर चलने को तैयार है।

आगे के पृष्ठ ऐसे ही व्यक्तियों के लिये हैं।

रामानन्द

प्राक्कथन

(अंग्रेजी के संस्करण से अनूदित)

गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्द जी की अति गम्भीर पुस्तक ईवॅलूशनॅरी स्पिरिच्युऑलिज़्म (विकासात्मक अध्यात्म) के नये संस्करण (अंग्रेजी) को पाठकों के लिये प्रस्तुत करते हुये मैं बहुत आनन्द का अनुभव कर रही हूँ। यह पुस्तक गुरुदेव के जीवन और शिक्षाओं के आधारभूत दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करती है। इसका ज्ञान जहाँ परम आवश्यक है वहीं पाथेय भी है। यहाँ प्रस्तुत ज्ञान परमाश्वयक है क्योंकि इसमें आप उन आधारभूत सिद्धान्तों और संकल्पनाओं को जान पायेंगे जिनके बिना मानव जीवन के लक्ष्य और उद्देश्य को हृदयंगम कर पाना कठिन है; यह पाथेय भी है क्योंकि यह ज्ञान साधक को साधना में सहायता करता है और पथ में आने वाली क्रमिक विकास की अवस्थाओं और प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है। इस आधारभूत ज्ञान के बिना साधना में कतिपय कठिनाईयों का सामना साधक को करना पड़ सकता है।

स्वामी जी के आधारभूत जीवन दर्शन को समुचितरूप से विकासात्मक अध्यात्म की संज्ञा दी जा सकती है। यह अध्यात्मवाद ही है क्योंकि इसके अनुसार परम सत्य नैसर्गिक रूप में आत्मा ही है न कि जड़, अचेतन द्रव्य जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत से विचारकों की मान्यता थी। हमारे पूर्वजों ने प्राकृतिक संसार के पीछे और उसके आधारभूत एक परमात्मा (परम+आत्मा) की कल्पना की। गीता इसे पुरुषोत्तम कहती है। इसका सारभूत गुण है चेतना। शास्त्र इसको सत्-चित्-आनन्द के रूप में वर्णित करते हैं। प्रकृति का संसार और स्वयं मानव इसी परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं।

यही परमात्मा पहले द्रव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है, पुन: प्राण का रूप लेता है, तत्पश्चात् मानवों में कामना के रूप में प्रकट होता है। विकास की प्रक्रिया मानव पर आकर ही उपराम नहीं हो जाती; उससे उच्चतर सत्तायें हो सकती हैं और वस्तुत: हैं भी। (विकास की) उच्चतम अवस्था में प्रेम विकास की प्रक्रिया का चरम परिपाक प्रतीत होता है।

स्वामी रामानन्द जी इस पुस्तक में विकास की प्रकृति और उसके अर्थ की व्याख्या करते हुये उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जो इसके नियामक हैं यथा पुनर्जन्म और कर्म; एवं इन अति गम्भीर विषयों पर भरपूर रोशनी डालते हैं।

स्वामी जी के विचारों का सारांश प्रस्तुत करना यहाँ समीचीन न होगा। पाठक को इस छोटी सी पुस्तक को पढ़ने का और पुनर्पुनः पढ़ने का और अपने जीवन और अपनी साधना को इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रकाश में सुनिर्देशित करने का मैं निमन्त्रण दे रही हूँ।

सुमित्रा माँ

साधना कार्यालय
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल (हरिद्वार)

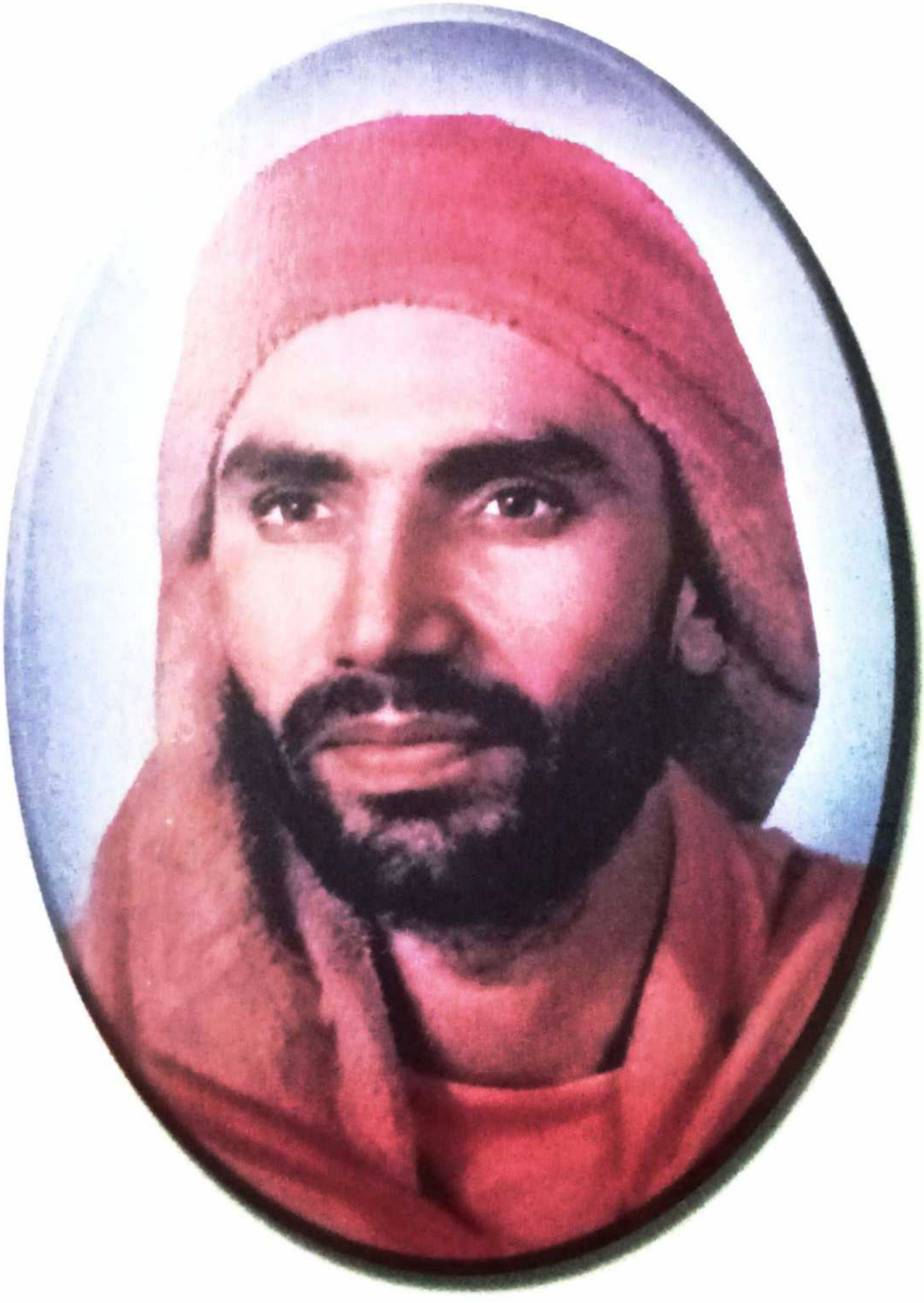

युग प्रवर्तक स्वामी रामानन्द जी

प्रकाशक की ओर से

अंग्रेजी भाषी अध्यात्मवादियों ने पूज्य गुरुदेव की Evolutionary Spiritualism ईवॅलूशनॅरी स्पिरिच्यूॲलिज़्म नामक पुस्तक को गुरुदेव की चोटी की पुस्तकों में अग्रणी स्थान दिया। यद्यपि उन्हें यह कठिनतम भी लगी। इस वर्गीकरण ने हमें प्रेरित किया कि इस पुस्तक के साधना पत्रिका में पहले ही छप चुके हिन्दी अनुवाद को हिन्दी भाषी पाठकों के लिये पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करें ताकि गुरुदेव के विचारों की सम्पूर्णता से वे भी लाभान्वित हो सकें। इस पुस्तक के अनुवादक श्री रामनारायण जी गुप्त गुरुदेव के परमप्रिय शिष्यों में से एक थे जो उत्तर प्रदेश शिक्षा विभाग के डिप्टी डायरेक्टर के पद से रिटायर हुये। अध्यात्म में उनकी गहरी पैठ थी यह उनके साधना पत्रिका में छपे लेखों से प्रकट है।

श्री रामनारायण गुप्त जी ने ही गुरुदेव की पुस्तक Evolutionary Outlook on Life का हिन्दी अनुवाद किया था जो ''जीवन विकास एक दृष्टि'' के नाम से प्रकाशित की गई। उसकी साधकों ने बहुत सराहना की। उससे प्रेरणा लेकर हम यह अनुवाद ''विकासात्मक अध्यात्म'' के नाम से आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है आप सभी इससे लाभान्वित होंगे।

साधना परिवार सदा उनका आभारी रहेगा, विशेषकर हिन्दी भाषी बहिन भाई जिन्हें गुरूदेव की अमृतवाणी का रसास्वादन अनुवादक भाई ने करवाया है। उनका पुर्नपुनः कोटि कोटि धन्यवाद।

हम श्री विजय भण्डारी, श्रीमती विनोद शर्मा एवं श्रीमती रमन सेखड़ी के आभारी हैं जिन्होंने हिन्दी अनुवाद के संकलन तथा प्रूफ संसोधन में हमारी विशेष सहायता की। हम श्री राकेश भार्गव, श्री मुकेश भार्गव एवं श्री सतीश अग्रवाल के भी आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में हमें अपना अमूल्य सहयोग दिया।

ओम प्रकाश सेखड़ी

सम्पादकीय निवेदन

परम पूज्य गुरुदेव की प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के शब्दों में अध्यात्म की पाठ्य पुस्तक (Text Book) ही बन गई है। यह विषय के अनुरूप ही कुछ कठिन अवश्य है, लेकिन है पूर्णतया सुग्राह्य सुधी पाठकों के लिये। अध्यात्म एक गूढ़ विषय है जिसको ग्रहण करने के लिये व्यक्ति के भीतर तीव्र उत्कण्ठा और सच्ची लगन परमावश्यक है और साथ ही अपनी समस्त अक्षमताओं के साथ साधना में लग जाना। ज्यों ज्यों व्यक्ति तैयार होता जाता है, धैर्यपूर्वक पथप्रदर्शक द्वारा निर्देशित पथ पर बढ़ता चला जाता है, रहस्यमय द्वार खुलते चले जाते हैं, आत्मा और परमात्मा के साथ सीधा जुड़ता चला जाता है। जो पहले कठिन, समझने में न आने वाला प्रतीत होता था, सहजरूप से आत्मसात् होता जाता है। व्यक्ति साधारण मानव से दिव्यत्व की ओर अग्रसर होने लगता है।

श्रद्धेय गुरुदेव चाहते हैं कि हम मानव प्रकाश स्तम्भ बन जायें, परम चेतना के वाहक। हमारा जीवन ऐसा हो कि हमें चुम्बक की भाँति बना दे। ऐसा ही गुरुदेव के कतिपय शिष्य कर रहे हैं जिन्होंने उनकी विचारधारा को समझा और जीवन में उतारा है।

आप भी ऐसा ही कर सकते हैं। श्रद्धेय रामनारायण जी गुप्त ने Evolutionary Spiritualism का अनुवाद करके हिन्दी में पठन-पाठन कर सकने वाले हम साधकों पर परम उपकार किया है। क्योंकि यह मूल अनुवाद साधना पत्रिका में श्रंखलाबद्ध छपे अनुवाद से लिया गया था इसलिए इस अकिंचन ने उसे संशोधित, परिमार्जित करने की ठानी। इसकी धृष्ठता थी यह जिसके कारण अनुवाद की छपाई में विलम्ब हुआ। इसने अनुवाद को सरल करने के बजाय शब्दार्थ हर पृष्ठ पर देने का निर्णय किया ताकि जिनके पास हिन्दी शब्दकोष नहीं वे पाठक भी सरलता से पुस्तक को समझ सकें। यदि कहीं अर्थ सटीक न लगे जो पाठकों को थोड़ा कष्ट उठाना होगा और अपने सुधारों को सम्पादक तक पहुँचाना होगा ताकि भविष्य में उनकी विज्ञता का लाभ सभी साधक ले पायें।

अनुवाद में जो कोई भी कमियाँ प्रबुद्ध पाठकों के दृष्टिगोचर हों, अवश्य इस अकिंचन को प्रकाशक के माध्यम से सूचित करें ताकि साधना पत्रिका

में प्रकाशित कर अपने साधक भाई बहिनों को उनका लाभ मिल सके।

गुरुदेव, मंगलमयी माँ सदा हम सब पर कृपा करें।

श्री राम दें विराम!

विनीत

सम्पादक

अध्याय 1
हमारा सिद्धान्त

खण्ड 1

हम तर्क का तिरस्कार नहीं करते। हम इसका तिरस्कार कर भी नहीं सकते क्योंकि इसका बड़ा महत्व है। हम तर्क के द्वारा तर्क से पार होते हैं। तर्क मनुष्य की मानवता का निर्माण करता है और हमारे लिए मानव होना आवश्यक है पूर्व इसके कि हम ईश्वरत्व की उपलब्धि कर सकें। हमें तर्क को उचित महत्व देना ही है परन्तु अपने प्रयासों में हम इसे सर्वोच्च स्थान नहीं दे सकते। विकास के उच्चतर तथ्यों पर दृढ़ अधिकार प्राप्त करने के लिए हमें अन्तरिक्ष में उड़ान भरनी है। बेचारे तर्क के पास अन्तरिक्ष में उड़ने योग्य पंख नहीं होते।

तर्क की अनेक सीमाएँ हैं। हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर तर्क करते हैं। यह हमारा सीधा या प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है या परोक्ष अथवा दूसरों द्वारा संप्रेषित[1]। लेकिन अनुभव प्रतिक्षण वर्धमान है। हमारी शताब्दी में विज्ञान के प्रसार ने ज्ञान के उन विशाल क्षेत्रों के द्वार खोल दिये हैं जिनको हम स्वप्न में भी नहीं देख सकते थे। और ज्ञान के भावी विस्तार की तो सीमा ही नहीं है। अतीत में विचारों और वस्तुओं के विषय में हम अपनी धारणाओं को बदलते रहे हैं और भविष्य में भी ऐसे परिवर्तन की पूरी सम्भावना है। अत: तर्क में अन्तिमता (finality) नहीं है।

विचारक का वैयक्तिक गुणाङ्क (personal coefficient) दूसरी गम्भीर सीमा है। विज्ञान की प्रायोगिक क्रिया इसका निराकरण विशुद्ध यन्त्रों से करती है जो पाठ्यांक को यान्त्रिक रीति से अंकित करते हैं। लेकिन जब हम दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो यह वैयक्तिक गुणाङ्क नितान्त अपरिहार्य[2] हो जाता है। हमारे लिये यान्त्रिक विधि से तर्क करने वाले और उसी प्रकार निष्कर्ष निकालने वाले उपादान[3] (instruments) प्राप्य नहीं हैं और न ही इस प्रकार के यन्त्रों की सम्भावना दीखती है। क्योंकि दर्शन जीवन है; जीवन

---

1. भेजे गये
2. जिससे बचा न जा सके, अत्यावश्यक
3. यन्त्र

ही उसका उद्गम[1] स्थान है और यह जीवन को ढालता है। मानुषिक स्तर पर जीवन और व्यक्तित्व का अविच्छिन्न[2] सम्बन्ध है। तथाकथित शुद्ध तर्क व्यक्ति का यथार्थ जीवन से सम्बन्ध विच्छेद कर देता है।

यह वैयक्तिक गुणाङ्क विभिन्न प्रकार से प्रभावी होता है। विचारक, उसका परिवेश[3] (environment) और उसका जीवन भर का अनुभव, सभी प्रभाव डालते हैं। सूक्ष्मग्राही व्यक्ति[4] आदर्शवाद की ओर झुकता है तथा स्थूलग्राही[5] यथार्थवाद की ओर। तन्त्रिकाध्वस्त व्यक्ति जीवन के नकारात्मक दृष्टिकोण की ओर प्रवृत्त होता है। अनजाने ही मनुष्य जिस वायुमण्डल में रहता है उसी में सांस लेता है। इससे उसका दृष्टिकोण (outlook) प्रभावित होता है। अवसाद (depression) के युग का प्रभाव दार्शनिक पर पड़ता है और कवि पर भी। देश के बौद्धिक पुनर्जागरण (renaissance) में दार्शनिक पुनर्जागरण करने की प्रवृत्ति होती है; और उसका विलोम[6] (vice versa) भी सत्य है।

मनुष्य के जीवन के अनुभव उसके तर्क को रंजित[7] करते हैं। निराशापूर्ण जीवन उसको नियतिवादी[8] (determinist) बनने की ओर प्रवृत्त करता है। इसके विपरीत, सफल उद्योगों भरा जीवन उसको अनियतिवादी बनाता है। यदि हमें किसी व्यक्ति का, उसके जन्म की परिस्थितियों का, उसके विकास और शिक्षा का, और उसके जीवन की प्रमुख घटनाओं का ज्ञान हो, तो हम समझ सकते हैं कि वह व्यक्ति किसी विशेष प्रकार से तर्क क्यों करता है।

तर्क में उतार-चढ़ाव होता रहता है। विचारों, वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हम अपना मत बदलते रहते हैं। एक ही घटना किसी व्यक्ति के लिये हमारी प्रशंसा को तीव्र घृणा में बदल देती है। एक संयोग, जैसे किसी प्रिय स्वजन की मृत्यु, जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को बदल सकती है और हम भिन्न प्रकार से तर्क करने लगते हैं। हमारा तर्क अपनी मौजों में बड़ा अयुक्तिक (unreasonable) है।

---

1. स्त्रोत, आरम्भ होने का स्थान
2. जिसे अलग न किया जा सके
3. माहौल
4. संवेदनशील व्यक्ति
5. स्थूल (मोटी) बुद्धि वाला (thick-skinned)
6. उलट
7. रंग देना
8. जो सब कुछ पूर्व निश्चित मानते हैं

तार्किक मन का प्राण * और संवेगी [1] मन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे दोनों विवेकहीन और अस्थिर हैं। जब तक उनकी पकड़ तार्किक मन पर रहती है तब तक मन का अस्थिर होना स्वाभाविक है। उनके प्रभाव से मुक्त होने पर ही वह स्थिर हो सकता है। तब हम शुद्ध तर्क की बात कर सकते हैं; इससे पहिले नहीं।

यहाँ तक हमने तर्क की सीमाओं पर विचार किया है। अब हम मानव मन की एक गम्भीर सीमा पर विचार करेंगे।

संसार को हम वस्तुनिष्ठ [2] सत्ता (objective reality) मानते हैं। "इसकी स्थिति बाहर ठीक उसी प्रकार की है जैसा हम इसे अनुभव करते हैं और व्यवहृत [3] करते हैं, न इससे अधिक और न इससे कम।" लेकिन यह सत्य नहीं है। आधुनिक विज्ञान ने हमारी दृष्टि की सीमा को विस्तृत [4] कर दिया है और हम जानते हैं कि जैसा हम संसार को साधारणतया समझते हैं उससे यह बहुत बड़ा है।

हमारी आँखें प्रकाश के स्पन्दनों को एक सीमित आयाम तक ग्रहण कर सकती हैं और उस आयाम के बाहर वाले स्पन्दन चाहे वे दीर्घतर या क्षुद्रतर हों हमें दृष्टिगोचर नहीं होते। हम पराबैंगनी (ultra-violet) हैं और अवरक्तवर्णी (infra-red) प्रकाश नहीं देख सकते। ऐसी ही दशा हमारे श्रोत्रों [5] की है। वे शाब्दिक कम्पनों के सीमित परास (limited range of sound vibrations) को ही सुन सकते हैं। उससे ऊँचे और नीचे के स्तर वह ग्रहण नहीं कर सकते। हमारी अन्य इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार अवरोधों [6] से पीड़ित हैं। अत: इन्द्रियगृहीत संसार ही जगत का आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त और बहुत कुछ है; पर कौन कह सकता है कि कितना ?

जन्मान्ध के लिए यह संसार भिन्न है। उसके लिये यह संसार हमारे संसार से बहुत छोटा है, प्रकाशहीन और वर्णविहीन। प्रकाश और रंग का

---

* प्राण हमारे अस्तित्व का जीवनदायी अंग है - लेखक

1. भावना से प्रभावित होने वाला (emotional)
2. जिसे हम वस्तु की भाँति देख, अनुभव कर सकते हैं
3. व्यवहार में लाना
4. बढ़ा दिया है
5. कानों
6. रुकावटों, अक्षमताओं (handicaps)

उसके लिये कोई प्रत्यय[1] बन ही नहीं सकता। उस व्यक्ति के लिए जो प्रकाश के और शब्द के हमसे अधिक स्पन्दन पकड़ सकता है, संसार का आयाम हमारे संसार से अधिक बड़ा होगा।

यदि कोई व्यक्ति ऐसा हो जो हमारे से भिन्न कम्पनों को ग्रहण कर सकता है तो उसका संसार हमारे संसार से भिन्न होगा यद्यपि वास्तव में संसार वही है। वह हमें नहीं समझ-जान सकेगा और न हम उसको। हमारा पारस्परिक संचार सम्भव नहीं होगा। यदि ऐसा सम्भव होता, तो जिस संसार में हम दो व्यक्ति रह रहे हैं उसकी प्रकृति के विषय में हम कभी सहमत न हो पाते। यह बात कितनी अदभुत है, यद्यपि वैज्ञानिक ढंग से यथार्थ।

इस प्रकार हमारा मन सत्ता का एक ही पक्ष जानता है। हमको दिखाई देने वाला चित्र आंशिक होता है अत: हमारे तर्क और निर्णय स्वभावत: अपूर्ण होते हैं। हम पूरी तरह उन पर भरोसा नहीं कर सकते।

हम विचित्र असमंजस[2] की स्थिति में रहते हैं। हमारे पास ज्ञान (जानकारी) प्राप्ति का केवल मात्र साधन मन है और उसमें इतनी गम्भीर त्रुटि है। हम जीवन कहाँ से आया और उसका लक्ष्य क्या है कैसे जान सकते हैं ?

इस स्थिति से निकलने का एक उपाय है। हमारा विकास होना रुका नहीं है। मन विकास का अन्तिम सोपान नहीं है। विकास क्रम में हममें तार्किक मन से एक उच्चतर और अधिक विस्तृत चेतना प्राप्त करने की क्षमता है। हमें अभी प्रज्ञान चेतना (wisdom consciousness) का विकास करना है जो तार्किक मन की मानो जननी है। जो कुछ मन नहीं समझ सकता उसे वह जान सकती है। जहाँ मन विफल होता है वहाँ उसकी गति है। यह तादात्म्य[3] के द्वारा ज्ञान प्राप्त करती है अत: सादृश्य[4], निगमन[5] और आगमन[6] से स्वतन्त्र है। इसके अतिरिक्त, हम प्रकाश और शब्द के सूक्ष्मतर कम्पनों को पकड़ने में कुशल हो जाते हैं। अत: जीवन के अधिक

1. उसके विचार की पकड़ में नहीं आ सकता
2. क्या करें, क्या न करें। अनिर्णय
3. एक रूप हो जाना
4. समानता, एकसापन दिखाने वाले उदाहरण
5. उदाहरणों के विश्लेषण से प्राप्त ज्ञान
6. विशेष से साधारण नियम का अनुमान

रहस्यमय फलक[1] (aspects) हमारे सम्मुख खुलने लगते हैं। इस प्रकार हमारे ज्ञान प्राप्ति की क्षमता में दुगनी वृद्धि सम्भव है।

केवल इतना ही नहीं। हममें इससे भी ऊँची चेतना, अर्थात् भागवती चेतना, उपलब्ध करने की क्षमता है जो हमें प्रत्येक वस्तु से, भीतर और बाहर से, एकरूप कर देती है। और साथ ही हम प्रभु से ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं।

निस्सन्देह यह महती सम्भावना है। और, यह पूर्णतया अनुभवगम्य है, यद्यपि इतनी सरलता से नहीं। तर्क इसकी साक्षी देता ही है। अनुभव भी इसका साक्षी है, किसी एक व्यक्ति का अनुभव नहीं, वरन् अनेक व्यक्तियों का जिन्होंने विकास क्रम में अपने बन्धुओं की अपेक्षा तीव्रतर गति से अग्रसर होने का प्रयास किया है।

खण्ड 2

हमने यह जान लिया कि जिस संसार में हम रहते हैं उसका जो रूप हमें दिखलाई पड़ता है वह हमारी इन्द्रियों की सीमाओं के कारण ऐसा दिखता है। और हमारे मन की सीमाओं के कारण भी ऐसा दिखता है।

एक ही प्रकार के ऐन्द्रिय उद्दीपन[2] (sense stimuli) समान बोध नहीं उत्पन्न करते। दो व्यक्ति एक ही स्थिति को देखते हैं और उन्हीं शब्दों को सुनते हैं मगर उनका अर्थ भिन्न-भिन्न लगाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा हमें केवल उद्दीपन बाहर से मिलते हैं। मन उनको पदार्थों और स्थितियों में व्यवस्थित करता है। वृक्ष का एक ही तना पुलिसमैन को चोर और प्रेमी को प्रेमपात्र प्रतीत होता है। एक ही परिस्थिति किसी के लिए आशाजनक हो सकती है और दूसरे के लिए निराशाजनक हो सकती है। यह मन है जो भेद उत्पन्न करता है। संसार को हम अपने मन की ऐनक से देखते हैं।

मानसिक क्रिया बड़ी महत्वपूर्ण है और वह हमारे जीवन को वह रूप देती है जो हमें भासता[3] है। भावनायें और विचारनिधियाँ (intellections) हमारी मानसिक क्रिया के उत्पादन हैं। इन दोनों में प्रत्येक व्यक्ति विलक्षण

---

1. पक्ष, पट
2. प्रतिक्रिया जगाने वाले, उकसाने वाले संवेदन
3. अच्छा लगता है, प्रतीत होता है

है इसलिये संसार जैसा एक व्यक्ति के लिये है ठीक वैसा अन्य व्यक्ति के लिये नहीं। इसीलिए जीवन दर्शन अनेक प्रकार के हैं।

पर्वत की चोटी से हम एक दृश्य देखते हैं और घाटी की तलहटी से दूसरा। परन्तु हमको दिखाई पड़ने वाला भूखण्ड एक ही है। इसी प्रकार हम सामने से मकान का एक पक्ष देखते हैं, पीछे से दूसरा और ऊपर से उनसे भी भिन्न, यद्यपि मकान वही है। प्रत्येक दर्शन जीवन को एक विशेष आधार-बिन्दु से देखता है। यह दर्शन बाह्यपरक[1] है और दृष्टि की सीमाओं के कारण वास्तविकता का केवल एक पक्ष देखता है। ऐसे ही भौतिक शास्त्री संसार का परीक्षण करता है और द्रव्य के भौतिक गुण धर्मों को खोज निकालता है। उसे आकाशीय पिण्डों की गति का, ताप का, प्रकाश का, विद्युत का और भौतिक शक्तियों की पारस्परिक अन्तर्क्रिया का ज्ञान होता है। वह द्रव्य में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों का निरीक्षण नहीं करता और न उन निरन्तर होने वाले रूपान्तरों का जिनमें से संसार गुज़र रहा है। जीव-विज्ञान-वेत्ता[2] (biologist) जीवन की घटनाओं का अध्ययन करता है और अत्यन्त रोचक नई सृष्टि का परिचय प्राप्त करता है जो भौतिकी और रसायन शास्त्रीयों द्वारा अनिरीक्षित[3] रह जाती है। किसी स्थिति में हमको प्राप्त होने वाला ज्ञान इस पर निर्भर करता है कि हम कहाँ खड़े हैं और किस दिशा में देख रहे हैं। तार्किक मन की आन्तरिक संगठन क्षमता बड़ी महत्वपूर्ण है।

अन्ततोगत्वा[4] दर्शन है क्या ? यह जीवन-विषयक दृष्टि है। यह व्यक्ति की इन्द्रियों द्वारा प्राप्त जीवन के तथ्यों का मानसिक संयोजन[5] है। इसकी यथार्थता की मात्रा जीवन के तथ्यों से अनुकूलता की मात्रा पर निर्भर करती है। प्रत्येक दर्शन की जीवन के कम से कम कुछ पक्षों से अनुकूलता होती है और उस सीमा तक यह यथार्थ होता है। वह दर्शन जो जीवन के सभी पक्षों से अनुकूलता स्थापित कर पाये और युक्तियुक्त ढंग से सभी की व्याख्या कर सके, पूर्णत: शुद्ध होगा। हमारा मन सीमित है। यह सभी तथ्यों को नहीं जान सकता और सभी सम्भव पक्षों को नहीं देख सकता। इसलिए

---

1. बाहर की बात देखने वाला
2. जीवों का अध्ययन करने वाला
3. बिना जाँचे
4. आखिरकार (after all)
5. मन के द्वारा व्यवस्थित रूप देना

जीवन का पूर्ण रूप से यथार्थ दर्शन, अथवा पूर्ण दर्शन, उपलब्धि में न आ सकने वाला अन-अनुभवगम्य[1] (unrealisable) आदर्श है।

मन की एक और सीमा है। किसी वस्तु का ज्ञान यह केवल विश्लेषण द्वारा प्राप्त करने में समर्थ है, उसकी समग्रता में नहीं। सभी मानसिक अनुसन्धान[2] विश्लेषण[3] और संश्लेषण[4] हैं। इन विधियों से जीवन का वास्तविक ज्ञान नहीं मिलता। यह है खण्ड-खण्ड करके समझना और बाद में उनके योग से पूर्ण का एक प्रत्यय बनाना। इसमें हम एकात्मक (united) जीवन अर्थात् यथार्थ जीवन के अध्ययन से वंचित रह जाते हैं। हमारा मन एक समय में केवल एक पक्ष समझने की क्षमता रखता है। जब हम मन के द्वारा बहु-आयामी[5] सत्ता (multi-dimensional reality) का अध्ययन करते हैं तो हम अधिक अंश छोड़ देते हैं और कम अंश ग्रहण कर पाते हैं।

दार्शनिक चित्र सापेक्ष (relative) चित्र है और निश्चय ही वह अनिवार्यत: अपूर्ण चित्र है। "दर्शन का दायित्व है अपरिभाष्य[6] की परिभाषा करना।" इस तथ्य को दृष्टि में रखने से हम जीवन के विभिन्न दर्शनों का समुचित मूल्याँकन कर सकते हैं।

हम विकसित हो रहे हैं और हमारे दर्शन भी। अधिकाधिक तथ्य प्रकाश में आते हैं और हमारी दृष्टि में संशोधन करते हैं। जीवन-दर्शनों में सम्पूर्णता नहीं है और न सम्पूर्णता सम्भव ही है।

1. जिसका अनुभव अथवा प्राप्ति न की जा सके
2. खोज
3. टुकड़ों में अध्ययन करना (analysis)
4. टुकड़ों को सम्बद्ध करना (synthesis)
5. बहुत से पक्षों वाली
6. जिसकी परिभाषा (definition) न हो सके

खण्ड 3

चेतना सजगता है। यह किसी भी कोटि की हो सकती है। अचेतन अवचेतन और सचेतन मन चेतना के कतिपय स्तर हैं। इनमें से सचेतन मन में सजगता गहनतम होती है। चेतना की अभिव्यक्ति तीन भिन्न प्रकार से होती है - संज्ञान[1] (cognition) या जानना, संकल्प[2] (conation) या इच्छा करना, और भाव या संवेदन[3] (affection)। हम उतनी मात्रा में सचेत होते हैं जितनी मात्रा में हमारा संज्ञान, संकल्प और संवेदन होता है। इनका सर्वथा अभाव पूर्ण अचेतनता का सूचक है।

जीव के विकास क्रम में वनस्पति के पश्चात् पशु जीवन आता है और उसके बाद मानव जीवन। विकास के सम्पूर्ण क्रम में व्यवहार अधिकाधिक जटिल होता जाता है। व्यवहार की जटिलता के आधार पर पौधों की अपेक्षा पशु और पशुओं की अपेक्षा मनुष्य बढ़े चढ़े हैं। पौधों में चेतना, अर्थात् संज्ञान, संकल्प और संवेदन, नाम मात्र का होता है। पशुओं में कुछ अधिक और उससे भी अधिक मनुष्यों में। मनुष्यों का ज्ञान पशुओं से मात्रा में अधिक होता है। पशुओं की तुलना में उनका संकल्प कहीं अधिक विस्तृत होता है और इसी प्रकार उनकी संवेदनशीलता भी अधिक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैवी विकास के साथ-साथ चेतना में भी वृद्धि होती है।

संज्ञान, संकल्प और संवेदन नाड़ी तन्त्र (nervous system) पर निर्भर हैं। विकास की गति के साथ-साथ इनमें तीव्रता से वृद्धि होती है। मनुष्यों में केन्द्रीय नाड़ी तन्त्र अनुकम्पी[4] नाड़ी तन्त्र से अधिक प्रबल होता है और उनमें संकल्प अधिक प्रबल होने लगता है। निर्बल केन्द्रीय संस्थान वाला व्यक्ति लगभग संकल्पहीन होता है। बचपन से आगे बढ़ने पर अनुकम्पी नाड़ी तन्त्र केन्द्रीय नाड़ी तन्त्र से दब जाता है और बच्चा एक विशिष्ट एवं

---

1. जानना
2. निश्चय करना
3. महसूस करना
4. पिंगला (sympathetic)

संवेदी व्यक्तित्व वाली इकाई बन जाता है। ये जैवी तथ्य भी स्पष्ट करते हैं कि जैविक[1] विकास में अग्रगति होने के साथ ही चेतना में अभिवृद्धि[2] होती है।

जीव-विज्ञान-वेत्ता (biologist) रूप के विकास का अध्ययन करता है। उसकी खोज रूप विकास की क्रियाओं के चारों ओर केन्द्रित होती है। वह यह निर्धारित करने का प्रयास करता है कि रूप विशेष किन-किन अवस्थाओं में से होता हुआ इस स्थिति तक पहुँचा। वह उपलब्ध प्राकृतिक सामग्री का अध्ययन करता है। उसको इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि उसका अर्थ तर्क संगत लगे और कल्पना से उसका चित्र पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार वह विकासमान रूपों (आकारों) की दैहिक क्रियाओं के विकास का अध्ययन करता है। अनुसन्धान की दोनों रेखायें एक दूसरे की पुष्टि करती हुई एक ही बिन्दु की ओर साथ-साथ बढ़ती हैं। जैविक[1] खोज के क्षेत्र में इस प्रश्न को स्थान नहीं मिलता कि "विकास क्यों होता है"।

चेतना का प्रस्फुटन क्रम से एक स्तर से दूसरे स्तर पर होता है। वनस्पति और उप-वनस्पति जीवन में यह अचेतन है, पशुओं में अवचेतन और मनुष्यों में सचेतन। दोनों प्रकार के विकासों में, अर्थात् रूप और चेतना के विकास में, समानान्तरण है। यह ध्यान में रखने योग्य पहिला तथ्य है।

मानवीय विचार-विधि अपनी अभिव्यक्ति के लिये मन की तथा केन्द्रीय नाड़ी तन्त्र की विशिष्ट अभिवृद्धि[2] की माँग करती है। जटिल मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का प्रकटन जिनमें मनुष्य समर्थ है केवल उसी के सूक्ष्म-संगठित शरीर के माध्यम से हो सकता है न कि बन्दर अथवा गुलाब के कम विकसित शरीर के द्वारा। मनुष्यों में भी विभिन्न स्तर की बौद्धिक और भावात्मक संवेदनशीलता होती है। परन्तु प्रत्येक दशा में जिस चेतना का प्रकटन होता है वह व्यक्ति विशेष के नाड़ी संस्थान के संगठन और उसके विकास के अनुकूल होता है। अत: हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि चेतना और रूप के विकास का समानान्तर मार्ग पर बढ़ना केवल आकस्मिक[3] नहीं है। इसका अधिक गहन[4] आधार है।

भौतिकवादी चेतना के विकास की व्याख्या उसको रूप के विकास का

---

1. जीव सम्बन्धी
2. बढ़ोत्तरी, विकास
3. अचानक होने वाला
4. गहरा

उपजात (bye-product) मानकर करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अध्यात्मवादी का मत है कि रूप के विकास की आवश्यकता चेतना के विकास के हितार्थ[1] होती है।

जैवी विकास को प्रेरणा चेतन इकाई के उस प्रयास के दबाव से मिलती है जो वह अपनी अभिव्यक्ति[2] के लिये करती है।

इन दोनों दृष्टिकोणों में मूलभूत अन्तर है और हमें चुनाव करना होगा।

हम विकास के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को चुनते हैं। क्योंकर ? जैसे-जैसे विकास आगे बढ़ता है हम देखते हैं कि मन लगभग अस्तित्वहीन दशा से उत्तरोत्तर बढ़ने वाली प्रभुता की ओर विकसित होता है यहाँ तक कि मनुष्य में आकर जीवन का सबसे अधिक प्रभुत्व वाला गुणाँक बन जाता है। चेतना पदार्थ के आगे बढ़ जाती है और उस पर अधिकार जमाना प्रारम्भ कर देती है। वनस्पति पूर्णरूपेण वातावरण की कृपा पर निर्भर है। वह क्रियात्मक रूप से अपने वातावरण का संशोधन नहीं कर सकती। पशु थोड़ी मात्रा में संशोधन कर सकता है और मनुष्य बहुत बड़ी मात्रा में। इसका कारण है मनुष्य में क्रियात्मक संकल्प का उदय और दूरगामी बोध का विकास। धीरे-धीरे मनुष्य में विचार-शक्ति का जागरण होता है और वह अपना भाग्य विधाता बनने का प्रयत्न करता है। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ सचेतन तत्वों का और उसके फलस्वरूप सचेतन मूल्यों का प्रभाव जीवन पर प्रबल होने लगा है।

हम इस दृष्टिकोण का चुनाव इसलिये करते हैं कि यह दूसरे दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुत से तथ्यों की श्रेष्ठतर व्याख्या करता है। इसके अनुसार जैवी विकास भी अर्थपूर्ण हो जाता है। हम रूप-विकास का कारण समझ सकते हैं। विकास एक अज्ञात शक्ति का, अर्थात् प्रकृति का अन्ध व्यापार मात्र नहीं रह जाता, वरन चेतना के प्रस्फुटन[3] के लिये एक सोद्देश्य क्रिया बन जाता है।

हम इस विकल्प का चुनाव इसलिये करते हैं कि यह जीवन को अर्थ प्रदान करता है और अस्तित्व को उसकी महत्ता। यह हमको आगे का मार्ग

---

1. लिए
2. प्रकट होना
3. उन्मीलन (खिलने के लिए)

दर्शाता है, अर्थात् हमारे भावी विकास की सम्भावना दर्शाता है। अचेतन से (अवचेतन में से होकर) हमने सचेतन तक प्रगति की है और अब हम उन्नति करते हुये अतिचेतन में प्रवेश कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार विकास की प्रक्रिया मनुष्य तक आकर समाप्त नहीं हो जाती। यह दिव्य चेतना की ओर अग्रसर होती है और उसके भी आगे भागवती चेतना तक बढ़ती है। सचेतन मन इस सीढ़ी का एक सोपान[1] मात्र है।

हम इसका चुनाव इसलिये करते हैं कि और अधिक विकास की सम्भावना व्यर्थ का स्वप्न नहीं है। यह अनुभवगम्य[2] तथ्य है। भौतिकवादी इसके "प्रमाण" की माँग कर सकते हैं। ऐसा होता है - यह सत्य अनेक सन्तों की जीवनियों से प्रमाणित है।

कुछ अंशों तक यह प्रत्येक साधक के जीवन में प्रमाणित होता है जो धैर्यपूर्वक अपने को प्रभु से युक्त करने का प्रयास करता है। सभी देशों और युगों का आध्यात्मिक इतिहास घोषित करता है कि हम मानुषी चेतना से ऊँचे स्तर की चेतना की प्राप्ति कर सकते हैं।

यह एक अनेक सभी के लिये स्थाई चुनौती है - जैसा दूसरों ने किया है वैसे आप भी अपनी मानसिक चेतना से आगे प्रगति कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी दिन इसका अतिक्रमण[3] करेगा और प्रज्ञान चेतना में प्रवेश करेगा, और इससे भी उच्चतर चेतना[4] में पहुँचेगा जो विकास के स्वाभाविक क्रम में ईश्वरी प्रेम बन जाती है। अपने प्रयास से आप अपने विकास की गति को तीव्र कर सकते हैं।

यह केवल अनुमान, या कल्पना या आत्म प्रवंचना[5] नहीं है। युग-युग में साधकों ने अधिक से अधिक सच्चे हृदय से इस दिशा में प्रयत्न किये हैं और अपनी चेतना के विकास में साधारण मानव समाज से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। उनका एक दर्शन है, एक विज्ञान है। हम उनके अनुभव से लाभ उठा सकते हैं। हम आगे का मार्ग देख सकते हैं और पूरी तैयारी से उस पर चल सकते हैं।

---

1. पैड़ी
2. जिसका अनुभव किया जा सकता है
3. आगे बढ़ जाना (go ahead)
4. देखिये सम्बद्ध अध्याय - लेखक
5. स्वयं को ठगना

खण्ड 4

यदि हम वास्तविकता[1] (सत्य) को समझना चाहते हैं तो हमें मानसिक चेतना के ऊपर उठना होगा। कहाँ से ? और किस दिशा को ? इन प्रश्नों का निश्चयात्मक उत्तर नहीं मिल सकता जब तक हम वर्तमान तर्कशील मन की सीमाओं में बँधे रहेंगे। इन्द्रियजन्य अनुभव हमारी मानसिक प्रक्रियाओं के आधार हैं और वे अत्यन्त सीमित हैं। विज्ञान हमारे इन्द्रिय ज्ञान को विस्तृत करता है परन्तु बहुत सीमित मात्रा में। तब हम महान समस्याओं का समाधान[2] कैसे पा सकते हैं ?

जैसे-जैसे हमारी उन्नति होगी हमारे इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा में निरन्तर वृद्धि होती जाएगी। हमारा विवेक चंचल प्राणों की मुट्ठी से और अस्थिर संवेगों[3] से मुक्त हो जायेगा। हमारी दृष्टि में सूक्ष्मता और व्यापकता आयेगी। अन्त: ज्ञान जागेगा और समन्वय करने की सजगता (synthetic awareness) भी।

हम विलक्षण[4] क्षेत्र में उतारे गये हैं। यदि हमें जीवन की सम्यक[5] दृष्टि प्राप्त करनी है तो हमसे यह अपेक्षा की जाती है कि हम वर्तमान चेतना-स्तर के ऊपर उठें। क्या जीवन की विशाल दृष्टि के बिना हमारी उन्नति हो सकती है ? नहीं, कदापि नहीं। जीवन की उच्चतर दृष्टि के लिये हमें उन व्यक्तियों के ज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा जो मानसिक चेतना से परे जा चुके हैं। हमें उनके दीपकों से लौ[6] लेकर अपने दीपक को जलाना है।

उनके सभी वचनों को हम सरलता से ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि वे ऊँची स्थिति से देखते हैं और उनकी दृष्टि हमारी दृष्टि से बहुत अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु आपको धैर्य-पूर्वक सुनना है, यथा शक्ति समझना है और उनके पद-चिन्हों का श्रद्धापूर्वक और दृढ़ता से अनुसरण करना है। आपको तर्क के उपयोग का अधिकार है न कि उसके दुरुपयोग का। जब आपकी प्राणिक और संवेगी प्रकृति का विकार आपके मन से दूर हो जायेगा तब

---

1. क्रियात्मक समस्याओं के लिये लेखक की 'Evolutionary Sadhana' पुस्तक देखें - लेखक
2. हल (solution)
3. भावनायें (भाव, विचार अथवा इच्छा का उमड़ना)
4. अनोखे
5. सन्तुलित, ठीक-ठीक
6. जलाने वाली

उनके सभी कथन आपको युक्तिसंगत प्रतीत होने लगेंगे। आपके लिये धैर्य रखना अनिवार्य है क्योंकि आपने बड़े दुरूह[1] कार्य को अंगीकार किया है और इसके सम्पादन में कई युग लग सकते हैं।

अगले पन्नों में हम जीवन का यह बोध देने का प्रयत्न करेंगे। जीवन का विकासीय दृष्टिकोण इस पर ही आधारित है।

1. कठिन, मुश्किल

अध्याय 2

परम सत्ता

खण्ड 1

भौतिकवादी भौतिक अस्तित्त्व के अतिरिक्त और कोई सत्ता मानने को तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि 'अध्यात्म चर्चा कोरी कल्पना है।' जिन वस्तुओं का हम वैज्ञानिक रीति से अध्ययन नहीं कर सकते उन्हें क्यों मान लिया जाए ?

हम देख चुके हैं कि केवल वे ही वस्तुयें सत् (सत्तावान) नहीं है जो हमारी इन्द्रियों के विषय हैं। इन्द्रियों में सीमित प्रकार के कम्पनों के प्रति प्रतिक्रिया करने का सामर्थ्य है जबकि हम निस्सन्देह जानते हैं कि कम्पनों का विस्तार इनके परे भी है। इन्द्रियों के द्वारा हमें उत्तेजनायें मिलती हैं। मन विषय-वस्तु को चिन्हित[1] करने का कार्य करता है। जिस संसार में हम रहते हैं उसका यह निर्माण करता है। विशेष उत्तेजनाओं से मन किस वस्तु का निर्माण करेगा यह उसके स्वभाव पर निर्भर है।

क्या हम उत्तेजनाओं को ग्रहण करते हैं ? क्या ऐसा कहना सही होगा ? हमें केवल उत्तेजनाओं द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर होने वाली प्रतिक्रिया का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त हमें उत्तेजनाओं का ज्ञान नहीं होता। हमारी ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न ज्ञानेन्द्रियों में इन्हीं उत्तेजनाओं से होने वाला प्रभाव बिल्कुल भिन्न हो सकता है, और उसके फलस्वरूप भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न होंगी।

अत: संसार के विषय में हमारे ज्ञान की दोहरी सीमायें हैं। वह ज्ञान इन्द्रियों की प्रकृति और मन के स्वभाव पर निर्भर करता है। हम संशयरहित होकर इतना ही मान सकते हैं कि बाहर से कम्पनों के रूप में उत्तेजनायें आती हैं। हम विभिन्न कोटि के कम्पनों के समुद्र में निवास करते हैं।

जिन कम्पनों को हम ग्रहण करते हैं उनके और हमारी इन्द्रियों के बीच कुछ न कुछ साम्य[2] अवश्य ही होना चाहिये अन्यथा हमारी इन्द्रियाँ उनके प्रति प्रतिक्रिया करने में असमर्थ होंगी। जिस प्रकार अपनी इन्द्रियों के विषय

---

1. पहचानने का
2. समता, मेल

में हमारा ज्ञान इन उत्तेजनाओं पर आश्रित है, वैसे ही बाहरी संसार सम्बन्धी ज्ञान भी इन्हीं पर निर्भर है। जैसा बाहर है वैसा ही भीतर। हमें इस निष्कर्ष[1] पर पहुँचना पड़ता है कि उत्तेजना ग्रहण करने वाले तन्त्र (mechanism) की प्रकृति ठीक वैसी ही है जैसी तथाकथित बाह्य संसार की। यह कम्पन ही है। अत: इन्द्रिय ज्ञान के इस स्तर से अपने को अलग कर लेने पर हमें अनन्त कम्पनों का एकरूप संसार दिखता है। ग्राहक[2] और ग्राह्य[3] की प्रकृति एक सी है।

फिर यह मन क्या है ? इस पर सघनता[4], विषयनिष्ठता[5], देश और काल का बोध निर्भर करता है। संसार के निर्माण के सभी उपादान[6] इसी पर निर्भर करते हैं। जिस प्रकार साधारण बिन्दुओं और रेखाओं से कलाकार एक सुन्दर चित्र बनाता है उसी प्रकार यह मन उत्तेजनाओं का प्रयोग करके विचित्रतापूर्ण संसार गढ़ता है। मन संसार का रचयिता है। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में विवश हैं।

आदर्शवादी का कथन है "संसार आदर्श है, यथार्थ नहीं।" अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि "यह भ्रम है यह सब मन की सृष्टि है। बाहर कुछ भी नहीं है। यह मृगमरीचिका[7] है।"

खण्ड 2

क्या यह निष्कर्ष आपत्तिरहित है ? नहीं, यह आपत्तिरहित नहीं है। हम जानते हैं कि मन के अतिरिक्त कुछ और वस्तु है जो इसे प्रभावित करती है। हम जानते हैं कि उत्तेजनाओं की प्रतिक्रियायें अवश्य होती हैं जिनमें से यह मन संसार का निर्माण करता है।

लेकिन यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि मन में कल्पना करने की क्षमता है। स्वप्नावस्था में उत्तेजनायें नहीं होतीं फिर भी एक जगत प्रकट होता है। "सम्भव है कि जाग्रत अवस्था में हमें प्राप्त उत्तेजनायें वास्तव में अस्तित्वहीन होती हैं। हम जाग्रत अवस्था में भी स्वप्न देख रहे हों जैसा कि स्वप्नावस्था में हम देखते हैं।"

---

1. नतीजा
2. ग्रहण करने वाला
3. ग्रहण किया जाने वाला
4. ठोस होने का गुण
5. विषय के प्रति सच्चाई, वस्तुपरकता
6. निर्माण की सामग्री
7. हिरण को होने वाला भ्रम

इस प्रकार के तर्क से स्वप्नावस्था के बारे में अनभिज्ञता[1] प्रकट होती है। स्वप्न में उत्तेजनायें होती ही हैं। साधारणतया वे बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक होती हैं। सचेतन (conscious) मन के पीछे और नीचे अवचेतन (sub-conscious) मन का समुद्र स्थित है और उसके नीचे अचेतन (unconscious) मन का महासागर। उसमें भरे पड़े हैं वे संस्कार जो हमने न केवल इस जन्म में माता का गर्भ छोड़ने के उपरान्त संचित किये हैं बल्कि पूर्व जन्मों[2] के संस्कार भी। यही संस्कार उत्तेजनाओं की तरह काम करते हैं। मनुष्य के भय, आशा और अन्य सहज प्रवृत्तियाँ क्रियावान होती हैं और इन्हीं संस्कारों से स्वप्न के संसार का निर्माण होता है। यहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध विद्यमान है चाहे हम स्वप्न में इनका पूरा पता लगाने में समर्थ न हो सकें।[3]

इस विचार विमर्श से स्पष्ट होता है कि आधारभूत सामग्री के अभाव में मन कुछ भी निर्माण करने में समर्थ नहीं है। दूसरे, इसमें स्वाभाविक अभिरुचियाँ हैं जिन्हें सहज प्रवृत्तियाँ (instincts) कहते हैं, जिनसे हमारी भावनायें सम्बद्ध हैं जो हमारी दृष्टि को रंजित करती हैं। परन्तु यह प्रश्न अभी शेष है कि मन इस प्रकार की रचना क्यों करता है? स्वप्न का सादृश्य[4] (analogy) इसका अर्थ स्पष्ट नहीं कर सकता। सहज प्रवृत्तियों की उपस्थिति में संसार और सांसारिक सम्बन्ध रंजित होते हैं, परन्तु जिस प्रकार के संसार का हमको इन्द्रियों द्वारा अनुभव होता है उसकी मौलिक प्रवृत्ति का कारण हम इन प्रवृत्तियों को नहीं ठहरा सकते। हम पुस्तक को पुस्तक के रूप में देखते हैं मगर भय, आशा या अन्य किसी आवेग के कारण नहीं। सभी मनुष्य पुस्तक को पुस्तक के रूप में देखते हैं। इस मौलिक रूप से सामान्य इन्द्रियजन्य अनुभव का क्या स्पष्टीकरण है? आदर्शवादी के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

---

1. अज्ञान की अवस्था
2. अध्याय 14 देखें - लेखक
3. कुछ स्वप्न वास्तव में काममय अनुभव होते हैं जबकि अन्य स्वप्न अवचेतन द्वारा निम्न स्तरीय मन को सांकेतिक भाषा में भावी घटनाओं की सूचना देने के प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं। - लेखक
4. तुल्यता, एकसापन

इसका एक ही युक्तिपूर्ण उत्तर है: इसका कारण है उत्तेजनाओं की प्रकृति तथा उनको ग्रहण और संगठित करने वाले साधन अर्थात् इन्द्रियाँ और मन। मन संसार को एक विशेष रूप में गढ़ता है क्योंकि वह अपने स्वभाव से विवश है, और जो सामग्री इसके सामने प्रस्तुत की जाती है वह भी जैसी है वैसी ही है। मेरे विचार में हम इसके अतिरिक्त और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

विषयता[1] (objectivity), दूरी इत्यादि का बोध मन में उदित होता है। ऐन्द्रिक[2] स्तर पर इसका अभाव है। क्या हम कह सकते हैं कि मन ने बिना किसी विषयगत सामग्री के इसको उत्पन्न कर दिया है केवल इसलिये कि इन्द्रियाँ कम्पनों के इस पक्ष को ग्रहण करने में असमर्थ हैं ? जो कुछ इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं उसको ग्रहण करने में मन कदाचित समर्थ हो सकता है। बाल मनोविज्ञान हमें सिखाता है कि किस प्रकार हम दूरी इत्यादि का बोध प्राप्त करते हैं। इसका आधार इन्द्रिय-प्रदत्त[3] है और अपने पूर्व अनुभव के आधार पर मन उसका अर्थ लगाता है।

वास्तव में मन एक श्रेष्ठ इन्द्रिय है। उसमें इन्द्रिय-ज्ञान की नींव पर विश्लेषण विधि से विषयगत संसार की रचना करने की क्षमता है। तथ्य यही है कि मन इसकी रचना अपने भीतर से कर लेता है। उसे केवल पहिले से ही विद्यमान सामग्री का ज्ञान है। बच्चे को केवल पुस्तक के अक्षरों की पहचान हो सकती है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ वह उन्हीं अक्षरों को शब्दों के रूप में जान सकता है। और अधिक बड़े होने पर उन्हीं अक्षरों को सार्थक वाक्यों के रूप में जानने की क्षमता उसमें आ जाती है। क्या बच्चे की कल्पना जहाँ केवल अक्षर हैं वहाँ अर्थयुक्त वाक्यों का निर्माण कर लेती है अथवा वाक्य पहले से विद्यमान हैं जिनको समझने की योग्यता बच्चे ने अर्जित कर ली है ? वाक्य तो वहाँ वर्तमान हैं नहीं। बच्चे ने उनको समझने की क्षमता अर्जित की है। ऐसा ही मन के साथ होता है। यह एक सयाना बच्चा ही है, एक प्रौढ़ ज्ञानेन्द्रिय ही है जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान को वस्तुओं के रूप में संगठित कर सकता है।

---

1. विषय को बेलाग निष्पक्ष दृष्टि से जाँचना
2. इन्द्रियों (senses) के
3. इन्द्रियों के द्वारा दिया गया

जगत तो है ही। यह एक वस्तुनिष्ठ तथ्य है। हम मन के द्वारा यह जानते हैं। परन्तु हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं वह बाहर जो कुछ विद्यमान है उसका केवल एक पक्ष है, क्योंकि हमारी इन्द्रियों में कम्पनों के एक सीमित समूह को ही ग्रहण करने की क्षमता है और मन केवल उतनी ही सामग्री का संगठन करने में समर्थ है।

खण्ड 3

क्या है जिसकी सत्ता है ? यह हम पूर्ण रूप से नहीं जानते। इन्द्रियों के द्वारा हम उसके एक पक्ष का दर्शन कर सकते हैं। वास्तव में अपनी सीमाओं के कारण हम अधिक नहीं जान सकते। हम यह समझते हैं कि जो कुछ हम जानते हैं वह सम्पूर्ण सत्ता का केवल एक अणु मात्र है। उसको हम परमसत्ता कहेंगे।

एक ही परमसत्ता उनको भिन्न-भिन्न प्रतीत होगी जो भिन्न प्रकार के मन की विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा उसे देखते हैं जिसकी प्रतिक्रिया एक भिन्न कम्पन-समूह के प्रति हो सकती है।

क्या इन भिन्न पक्षों का कुछ अर्थ है? इनका उतना ही अर्थ है जितना किसी मनुष्य या भवन के विभिन्न पक्षों का। किसी मनुष्य या भवन को जानने के लिये हमें उसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन करना होता है। इसी प्रकार परम सत्ता को समझने के लिये हमें उसके विविध पक्षों को समझना होगा। यदि हम सभी सम्भव दृष्टिकोणों से इसका निरीक्षण कर पायें इससे फैलने वाले सभी कम्पनों को उनके सभी संचयों[1] (combinations) और क्रमचयों[2] (permutations) को ग्रहण कर सकें तभी हम परमसत्ता को समग्रता में जानने का दावा कर सकते हैं। परन्तु मन के लिये यह सम्भव नहीं है: परम सत्ता अगाध[3] है। इसकी ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ, इसकी विविधता और सम्पन्नता सभी एक समान ही मानवीय तर्क और कल्पना की पहुँच के बाहर हैं। यह ऊपर भी अनन्त है और नीचे भी अनन्त है, और जिस दिशा में भी दृष्टि डालें यह असीम है। मनुष्य का मन परमसत्ता की अनन्तता का चिन्तन करते हुये चक्कर खा जाता है।

---

1. संयोग, मिश्रण, संयोजन
2. सभी सम्भव क्रमों में संयोजन
3. जिसकी गहराई, थाह न पाई जा सके

मन स्वयं इस परमसत्ता का एक अंग है। यह दूसरे मनों के लिये ऐसा ही एक विषय है जैसा कि शेष संसार मन का विषय है। अनुभव में आने वाली कोई भी वस्तु अवश्य ही परमसत्ता का एक पक्ष ही होगी।

परमसत्ता के जिस पक्ष के सम्पर्क में हम आते हैं उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यह नित्य रूपान्तरण है, निर्माण और पुनर्निर्माण। कुछ भी स्थिर नहीं है। जहाँ परिवर्तन अदृश्य है, वहाँ या तो वह अति मन्द है या अति तीव्र, परन्तु होता अवश्य है।

गति इस विश्व के मूल[1] में है। वे परमाणु भी जिनसे हमारा यह संसार निर्मित है केवल तीव्रता से कम्पायमान विद्युत आवेशों (electrical charges) के समूह हैं। ध्यान से देखने पर हमें ज्ञात होगा कि द्रव्य विद्युत-शक्ति में द्रवीभूत[2] हो जाता है। परमसत्ता के इस परिवर्तनशील पक्ष को हम सम्भूति या क्षर कहेंगे।

खण्ड 4

परिवर्तन का बोध हमें कैसे होता है? किसी स्थिर वस्तु की तुलना से ही हम परिवर्तन का ज्ञान प्राप्त करते हैं। रेलगाड़ी में बैठकर तेजी से रेलगाड़ी की यात्रा करते हुये हमें इसकी गति अर्थात् स्थान-परिर्वतन का बोध नहीं होता। हमें इसका बोध तब होता है जब हम रेलगाड़ी के बाहर दृष्टि डालते हैं और भूमि तथा वृक्षों को विपरीत दिशा में भागते हुये देखते हैं।

पृथ्वी पर रहते हुये हमें यह आभास[3] नहीं होता कि यह अपनी धुरी पर घूम रही है और साथ ही सूर्य की परिक्रमा कर रही है, और सूर्य भी सम्पूर्ण सौर[4] जगत (solar system) के साथ आकाश में घूम रहा है। निरपेक्ष (absolute परम) गति का समझना बहुत जटिल है। केवल सापेक्ष (relative तुलनात्मक) गति ही मानव मन के द्वारा ग्राह्य[5] है।

परन्तु फिर भी अन्त में पूर्ण अक्षरता[6] की स्थिति अवश्य होगी, निरपेक्ष (absolute) गतिहीनता और परिवर्तनहीनता की स्थिति। हाँ ऐसा है, परन्तु मनुष्य का मन इसका अनुमान करने में असमर्थ है। तर्क के मार्गों का

---

1. आधारभूत (fundamental)
2. पिघल कर परिवर्तित हो जाता है
3. महसूस, प्रतीत
4. सूर्य
5. ग्रहण करने/समझने योग्य
6. अनस्तित्व (Non-becoming)

अनुसरण करता हुआ यह शून्य तक पहुँचता है जो अस्तित्व के अभाव की अवस्था है। वह भी सापेक्ष है क्योंकि इसका आधार है उन अस्तित्वों का निषेध जिनका हम साधारणतया अनुभव करते हैं।

क्या ज्ञान का कोई दूसरा मार्ग है ? हाँ है, हम पहिले ही संकेत कर चुके हैं। हमारी चेतना की सीमा में वृहत विस्तार की क्षमता है। सचेतन मन से हम अतिचेतन मन में उठ सकते हैं और हमारी प्रगति के साथ-साथ परमसत्ता के उच्चतर पक्ष हमारे सामने प्रकट होने लगते हैं। हम सम्भूति-रूप (क्षर पुरुष), को अधिकाधिक पूर्णता से जान जाते हैं। और चेतना के इस विकास क्रम में हम उस चैतन्य की उपलब्धि करते हैं जहाँ सम्भूति का विलास नहीं है, जहाँ कोई परिवर्तन नहीं होता। यह गतिहीनता (स्थैर्य) की अवस्था है। यह शुद्ध सत्ता की स्थिति है। इस अवस्था में न तो भीतर शेष रहता है और न बाहर, न नजदीक न दूर, न भूत, न वर्तमान, न भविष्यत्। जो कुछ हमने मन में और उसके उच्चतर स्तरों में अनुभव किया है उसका यह निषेध है, फिर भी यह अभावमात्र नहीं है। यह सत्ता की धनात्मक अवस्था है यद्यपि यह प्रपंच[1] से भिन्न है। यह अनुभव सम्भूति (व्यक्तता) के स्तरों से चेतना के प्रत्याहार (अलगाव) का फल है। परमसत्ता के इस नितान्त परिवर्तनहीन पक्ष को हम सत् (अक्षर पुरुष) कहेंगे। चेतना के उच्चतर स्तर पर पहुँचने पर हम यह अनुभव कर सकते हैं।

इस प्रकार परमसत्ता के दो पक्ष हैं - सम्भूति या क्षर-पुरुष अथवा परिवर्तनशील पक्ष और सत् (अक्षर) अथवा परिवर्तनहीन पक्ष[2]।

कतिपय विचारकों[3] ने सत् अथवा अक्षर को परमसत्ता माना है और सम्भूति (क्षर, व्यक्त) में वास्तविक सत्ता को नकारा है। उनका विचार है कि "दोनों परस्पर विरोधी हैं और दोनों सत्य नहीं हो सकते", और स्वप्न के संसार के सादृश्य के आधार पर व्यक्त को असत्य कहकर टाल दिया है। इसमें उनको अतिचेतन स्तर में सत् या अक्षर के आध्यात्मिक अनुभव का समर्थन प्राप्त है। पातञ्जलि के योग दर्शन ने इसे निर्विकल्प समाधि कहा है।

---

1. दृश्यमान जगत
2. भगवद्गीता में पहिले को क्षर पुरुष कहा है और दूसरे को अक्षर पुरुष। देखिये भगवद्गीता अध्याय 8 श्लोक 3-4 और अध्याय 15 श्लोक 16 - लेखक
3. श्री शंकराचार्य - मायावादम् - लेखक

अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त उन्हें न्यायसंगत जान पड़ा। उनकी परिभाषा में सत्य वह है जो अविकारी है। इससे उन्हें तार्किक अकाट्यता[1] प्राप्त हुई।

जिन्हें सत् का कुछ अनुभव नहीं है और जिनकी गति साधारण मानसिक चेतना से अत्यन्त अवरुद्ध[2] हो चुकी है वे सत् या अक्षर की सत्ता को नकारते हैं। उन्हें इस प्रकार की अभिधारणा[3] (postulate) की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनका कथन है कि "इसके बिना उनका कार्य भली भाँति चल सकता है।"

सत् (अक्षर) की स्थिति का अनुभव वास्तव में इतना महान है कि उनकी शान्ति और पूर्णता की तुलना में सब कुछ क्षुद्र प्रतीत होता है। अत: इसमें आश्चर्य नहीं कि जिन्हें इस अनुभव की प्राप्ति हुई है वे इस परिवर्तनशील प्रपंच की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। उस अनुभव की तुलना में यह छाया की भाँति है।

लेकिन हमें एकांगी निष्कर्ष से बचकर चलना है। एक ही परमसत्ता के दो पक्ष होने के नाते वे यथार्थ में विरोधी नहीं हैं। सत् (अक्षर) सम्भूति (क्षर) का आवश्यक आधार है। सत् के आलम्बन[4] के बिना सम्भूति की अभिव्यक्ति असम्भव है। प्रपंचात्मक जगत की स्थिति अविकारी आधार के अभाव में बिन्दु के सदृश है जो इस विशाल विश्व के रूप में बुन दिया गया है। यह अदृश्य परमाणु के समान है जिसने हमारे इस बहुत विशाल विश्व का रूप ले लिया है।

तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि सत् (अक्षर) सम्भूति (क्षर) ही बन जाता है ? नहीं। अक्षर क्षर का केवल आधार या उपादान[5] (stuff) है। परमाणु अपने आप विश्व का निर्माण नहीं कर सकता और न केवल बिन्दु विविध रूपों का निर्माण कर सकता है। जब विश्व की उत्पत्ति होती है तब भी बिन्दु बिन्दु ही रहता है और परमाणु परमाणु ही। अक्षर में न गति है, न काल, न देश। वह शुद्ध अक्षर है, विकार के सूक्ष्मतम स्पर्श से भी नितान्त अछूता। दृश्यमान जगत के रूप में हम इसके परिवर्तन का विचार नहीं कर

---

1. प्रभाव, तर्क के न काटे जा सकने से
2. बाधित, रुकी हुई
3. बिना प्रमाण के कल्पना
4. सहारा
5. जिससे निर्माण किया जाता है, सामग्री

सकते। जिस समय सम्भूति (क्षर) का संसार अभिव्यक्त होता है उस समय भी अक्षर अव्यक्त ही रहता है।

हमें अभी एक सीढ़ी और चढ़नी है।

खण्ड 5

सत् (अक्षर) और सम्भूति (क्षर) रूपी अपने दो पक्षों वाली परमसत्ता [1] अवश्य ही अनुभवातीत होगी। इन दोनों को एकत्व में, प्रपंचात्मक जगत के रूप में, अभिव्यक्त करने की शक्ति का इसमें होना आवश्यक है। यह अनिवार्यत: दोनों पक्षों का अतिक्रमण [2] करने वाली सत्ता होगी जो दोनों को समान रूप से आलम्बन दे रही है।

हम देख चुके हैं कि सत् को परमसत्ता नहीं माना जा सकता अन्यथा हमें सम्भूति की सत्ता को अस्वीकार करना पड़ेगा। साथ ही सम्भूति भी परमसत्ता नहीं हो सकती अन्यथा हमें अक्षर की अनुभूति को अमान्य ठहराना पड़ेगा। इसीलिये सर्वातीत सत्ता की श्रद्धापूर्वक खोज की आवश्यकता है।

(शुद्ध) अक्षर की अनुभूति के साथ ही चेतना का प्रस्फुटन रुकता नहीं। शुद्ध ज्ञान की चेतना के आगे भागवती चेतना की अवस्था है। यद्यपि यह तथ्य है कि अव्यक्त अक्षर को परमसत्ता मानने वाले इस अव्यक्त के अनुभव को स्थाई करने का प्रयत्न करते हैं। हम शान्त ब्रह्म (quiet) के आगे सर्वव्यापी चेतना में प्रवेश कर सकते हैं जो एक ही काल और एक ही गति में क्षर और अक्षर को अपने में समाविष्ट [3] किये हुए है। वह भौतिक मिश्रण के सम्मिलन के सदृश नहीं है वरन् रासायनिक यौगिक की भाँति है।

---

1. परमसत्ता : जहाँ तक प्रपंच का सम्बन्ध है व्यक्त और अव्यक्त अव्यावहारिक है। न तो अमिश्रित अव्यक्त है और न ही व्यक्त अमिश्रित है। दोनों की एकत्व में नित्य स्थिति है। सामान्य प्रत्यय बौद्धिक प्रत्याहार ही है। शुद्ध अक्षर अर्थात् निर्विकल्प का अनुभव एक कृत्रिम अवस्था है जो तनाव के अधीन प्राप्त की जाती है और स्थिर रखी जाती है। सम्भूति के संसार से चेतना के पूर्ण प्रत्याहार (हटा लेने) पर यह निर्भर करती है। इन दोनों को एकत्व में, प्रपंचात्मक जगत के रूप में, अभिव्यक्त करने की शक्ति का इसमें होना आवश्यक है। यह अनिवार्यत: दोनों पक्षों का अतिक्रमण करने वाली सत्ता होगी जो दोनों को समान रूप से आलम्बन दे रही है। - लेखक
2. पार जाना (go beyond)
3. संजोये

वह एक साथ ही दोनों का अतिक्रमण करती है। यह भागवती चेतना की अवस्था है। यह अवस्था है सर्वव्यापकत्व की, सर्वेश्वरत्व की, पूर्ण आलोक की, परमऐक्य की - जिसमें किसी नानात्व[1] को अस्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है - सन्तुलन की जो क्षोभ का बहिष्कार नहीं करती।

सन्तों का व्यक्तिगत अनुभव इस सर्वातीत परमसत्ता का प्रमाण है। हम स्वयं इस चेतना की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं जो एक ही समय में सम्भूति (क्षर) और सत् (अक्षर) का अपने में समावेश करती हुई दोनों के परे भी है। यह वह चेतना है जो जाग्रत और समाधि[2] चेतना को समान रूप से व्याप्त किये हुए है। यह पुरुषोत्तम सत्ता से ऐक्य भाव की चेतना है, उस पूर्ण निष्पत्ति[3] (fulfilment) की जो कभी लुप्त नहीं होती। यह विकास क्रम की सिरमौर[4] है। यह भागवती प्रेम की चेतना है।

1. वैभिन्य, विभिन्नता (diversity)
2. समाधि शब्द अनुभूतियों के उस विस्तृत क्षेत्र की ओर संकेत करता है जो किसी एक वस्तु से लिप्त चेतना की दशा से प्रारम्भ होकर निर्विकल्प अनुभूति की पूर्ण अन्तर्मुखी अवस्था में परिसमाप्त होता है। - लेखक
3. परम परिपूर्णता की स्थिति पाने की सफलता
4. (दूसरे शब्दों में) सर्वोच्च गौरवमयी उपलब्धि

अध्याय 3

परमेश्वर

यह सर्वातीत परमसत्ता परमेश्वर* है। यह अनन्त है, देशकाल और सम्भावनाओं में अपरिमेय[1], क्योंकि सभी परिमाणों[2] का जन्म इससे होता है। हमारा यह संसार और अनेक विश्व, सूक्ष्म और स्थूल, अपनी सभी अवस्थाओं सहित मन और अपने सभी रूपों में शक्ति, परमेश्वर के दो पहलुओं सत् और सम्भूति के विलास मात्र हैं। इससे सबका उद्गम हुआ है।

इसमें इनकी स्थिति है। इससे बाहर कुछ नहीं जा सकता क्योंकि प्रत्येक अस्तित्व इसमें और केवल इसमें सम्भव है। न कोई इसकी समता कर सकता है और न कोई इसको चुनौती दे सकता है क्योंकि इसके अतिरिक्त किसी का अस्तित्व है ही नहीं।

सम्भूति के इस संसार के सभी स्तरों के रूप में परमेश्वर व्यक्त हो रहा है। संसार में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है परन्तु परमेश्वर इससे अछूता रहता है क्योंकि वह सभी परिवर्तनों से परे है। यहाँ शुभ और अशुभ है, सुख और दुःख है, सुन्दरता और असुन्दरता है, ज्ञान और अज्ञान है, जीवन और मृत्यु है। सभी इससे उत्पन्न होते हैं परन्तु यह उन द्वन्द्वों से परे है। इनका निकास[3] इससे है परन्तु वे इसको सीमायित[4] नहीं करते। यह अपरिवर्तनीय बिन्दु की भाँति है जिसका अस्तित्व सब कुछ लील लेने वाले काल चक्र के समक्ष भी बना रहता है।

वर्णहीन[5] प्रकाश की भाँति यह सभी रंगों को उत्पन्न करता है परन्तु फिर भी अवर्ण[5] रहता है। प्रिज़्म (prism) के भीतर से निकला हुआ प्रकाश सात इन्द्रधनुषी रंगों को उत्पन्न करता है, परन्तु इसके बावजूद भी यह स्वयं (प्रिज़्म) वर्णरहित रहता है। अपनी वर्णहीनता के कारण यह विभिन्न रंगों को उत्पन्न कर सकता है। यदि इसमें अपना विशेष रंग होता तो यह अन्य रंगों को प्रकट न कर सकता। इसका रंग इसकी सीमा बन जाता। इसी तरह परमेश्वर स्वयं गुणरहित है। यह विभिन्न गुणों को जो

---

* भगवद्गीता के शब्दों में 'पुरुषोत्तम' - लेखक

1. जो मापा न जा सके
2. मापों
3. आविर्भाव, निकलना, उद्गम
4. सीमा में नहीं बाँध सकते
5. रंग के बिना

परस्पर विरोधी हैं, उत्पन्न कर सकता है। लेकिन जिन गुणों को यह उत्पन्न करता है वह कहाँ से आते हैं ? वे किसी न किसी प्रकार इसमें होंगे अन्यथा इससे उनका प्रकटन नहीं हो सकता था। इस सादृश्य के अनुसार वर्णहीन प्रकाश में सात रंगों की अवस्थिति[1] अवश्य होगी अन्यथा उनका प्रकटन कैसे हो सकता था ? अत: परमेश्वर एक ही समय में गुण रहित और गुण युक्त है। एक ही साथ यह सम्भूति को अपने में समाविष्ट[2] किये है और उसकी अभिव्यक्ति के सभी रूपों सहित उसका अतिक्रमण करता है। इसकी नित्य निर्मलता का, इसकी अनन्त शाश्वत शुद्धता का और अक्षय सम्भावनाओं का यही रहस्य है।

परमेश्वर सर्वोच्च सत् (सत्ता) है और सर्वोच्च सम्भूति। सर्वोच्च सत् अवस्था में यह गुण रहित है, निरपेक्ष, मन की पहुँच के बाहर, मन की ऊँची से ऊँची उड़ान और नीची से नीची पहुँच के बाहर, वर्णन शक्ति के परे, अविज्ञेय[3], अप्राप्य[4]। सर्वोच्च सम्भूति की अवस्था में यह सम्पूर्ण विश्व है - प्राणहीन भूतों से लेकर उच्चतम देवताओं तक, द्वन्द्वों की सभी गतियाँ, सभी शुभ और अशुभ, सन्त और पापी, अमृत और विष सभी कुछ है। यह हमारी स्थूल इन्द्रियों के लिये भी अनुभवगम्य है। वस्तुत: यह सर्वोच्च सम्भूति ही है जिसका हम अनुभव करते हैं और जिसमें अपने जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत करते हैं। यह व्यक्त परमेश्वर है और फिर भी परमेश्वर एक है, दो नहीं।

परमेश्वर के दोनों विरोधाभासी पक्षों को पृथक करने की मन में स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह मन दोनों का समन्वय नहीं कर सकता। "कोई वस्तु या तो गुणयुक्त होगी या गुण रहित। एक साथ यह दोनों नहीं हो सकती। यह व्यक्त हो सकती है या अव्यक्त। यह दोनों कैसे हो सकती है? यह विचार भ्रमात्मक[5] है।" इसमें आश्चर्य नहीं कि हमारा मन द्वैतभाव वाले परमेश्वर की कल्पना नहीं कर सकता। क्योंकि हम जानते हैं कि मानसिक चेतना, चेतना की विशाल सीढ़ी का एक मध्यवर्ती सोपान है, और यह उचित ही है कि हमारा मन उस परमेश्वर को समझने में असफल रहता है

---

1. विद्यमानता
2. समाये हुये
3. न जाने जा सकने वाला
4. न प्राप्त किया जा सकने वाला
5. चक्कर में डालने वाला

जो उच्च से भी उच्चतम है। सर्वोच्च स्तर की चेतना यह प्रमाणित करती है कि अनुभवातीत ऐक्यभाव में वह एक साथ परम सत् और परम सम्भूति है।

परमेश्वर सब रूपों से परे है। उसका अपना कोई रूप* नहीं है। सभी रूप उसके हैं। अपना स्वयं का रूप न होने से वह रूपों की बहुलता में व्यक्त हो सकता है। जो भी रूप आवश्यक है उसे वह धारण कर सकता है। वह व्यक्तित्व से परे है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। सब व्यक्तित्व उसके हैं और अपने भक्तों के लिये वह कोई भी व्यक्तित्व धारण कर लेता है। वह अकर्मा है तो भी सभी कर्म उससे उद्भूत[1] होते हैं। यदि वह कोई कर्म विशेष करे तो उनसे वह बद्ध हो जायेगा। परमेश्वर अपने परमभाव में अनुभवातीत सत्ता है। अनुभवातीत होते हुये वह विकास का अधिष्ठाता है, प्रभु है, सत् और सम्भूति दोनों से परे है।

जो कुछ भी है परमेश्वर उसका सृष्टा और नियन्ता[2] है। वह गतिमान है, अपनी पूर्ण शुद्धता और शक्ति में भगवती माँ है। देश और काल में वह विश्व की नींव रखता है। स्वयं अपने सत् और सम्भूति में से वह इस विश्व के भौतिक पदार्थ को रचता है। महान् कलाकार (Master Architect) की भाँति वह परमाणु के निर्माण से लेकर सूर्यों और तारागणों के निर्माण तक प्रत्येक क्षुद्र विवरण का ध्यान रखता है। वह अपने में से अनेक प्रतिनिधि शक्तियों को उत्पन्न करता है जो उसके साथ सामंजस्य बनाकर काम करती हैं।

जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, शुभ और अशुभ में सन्तुलन बनाये हुए वह इस विशाल सांसारिक क्रीड़ा का पोषण करता है। उसका महान संकल्प इसे सम्यक अवस्था में धारण किये है और अन्त तक इसका मार्ग प्रदर्शन करता है।

---

* परम सत्ता को व्यक्ति रूप लेते हुये उसके लिये व्यक्तिवाचक सर्वनाम का भी उपयोग हम कर सकते हैं - लेखक

1. जन्म लेते, उत्पन्न होते (वह सभी कर्मों का मूल है)
2. नियन्त्रण करने वाला

वह महान् रुद्र भी है, संसार का संहारक, नित्य ताण्डव[1] नृत्य करने वाला, कल्याण का जीवन तत्व जो सभी जातकों[2] को शून्य[3] की ओर लिए चलता है। मृत्यु जीवन की पूर्व निर्धारित शर्त है। वह छाया की भाँति प्रत्येक अस्तित्व का पीछा करती है। यह महान् संहारक महानतर सृष्टा है। वह महान अधिष्ठाता इस लीला का परिचालक है। वे तीनों भाव तीन नहीं हैं, एक ही हैं - परमेश्वर। एक ही तीनों रूपों में है और तीनों एक में हैं।

1. ताण्डव उस नृत्य को कहते हैं जो शिव संसार के संहार के समय करते हैं - लेखक
2. जिन्होंने जन्म लिया है
3. अर्थात, अनस्तित्व

अध्याय 4

भगवान

परमेश्वर दिव्य प्रभु है। वही एक है जिसकी भक्तों के द्वारा विविध प्रकार से पूजा की जाती है। वह हमारी प्रेमपूर्ण भेंट स्वीकार करता है और हमारे ऊपर कृपा की वर्षा करता है। वह व्यक्तित्व युक्त है। उसका व्यक्तित्व ऐसा ही विशिष्ट और प्रभावशाली है जैसा और कोई व्यक्तित्व।

सन्तों और भक्तों के आध्यात्मिक अनुभव से हमें यह ज्ञात हुआ है। वे ऐसे व्यक्ति हैं जिनके साक्ष्य को हम आसानी से अमान्य[1] नहीं कर सकते। परन्तु यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि "वे विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्रमाणित करते हैं।" इसमें सन्देह नहीं है। लेकिन उन भिन्नताओं से केवल यह सिद्ध होता है कि भगवान अनन्त है और उसमें अनेक रूपों में व्यक्त होने की सामर्थ्य है। इसमें कुछ भी अन्तर्विरोध निहित नहीं है। उनके अनुभवों की भिन्नता ठीक तरह से समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम भगवान की असीमता को समझें। भगवान शरीरी है और अशरीरी भी।

वह सुनता है। जब हम अपने हृदय के अन्तरतम से प्रेमपूर्ण श्रद्धा से पुकारते हैं और तीव्र भावना से पुकारते हैं तो वह सुनता है। वह प्रत्युत्तर[2] भी देता है। उसका उत्तर कभी उसकी प्रेमपूर्ण उपस्थिति की चेतना के रूप में आता है जिससे घने झंझावात में आश्वासन और सांत्वना मिलती है और कभी प्रकाश के रूप में आता है जो हृदय के अन्दर से ही चमकता है और हमारे मार्ग को आलोकित करता है। किसी के जीवन में यह ज्योतिर्मय और सजीव रूप में आता है, और दूसरों के पास प्रेममय स्पर्श के रूप में जो उन्हें आह्लादित करता है और ऊँचे उठाता है। भक्तों की पुकार का प्रत्युत्तर[2] देने की उसकी अनेक रीतियाँ हैं।

वह हमारी भेंट स्वीकार करता है। हमारी पूजा स्वीकृत होने के लिये हममें आत्मसमर्पण[3] की तीव्र भावना और प्रेम होना अनिवार्य है। जब वह स्वीकार करता है तो हमें मालूम हो जाता है कि उसने हमें स्वीकार कर लिया है। यह हम निश्चित रूप से और नि:सन्देह जान लेते हैं।

---

1. अस्वीकार, ठुकरा
2. प्रति उत्तर (response)
3. आत्मोत्सर्ग (self dedication)

वह अपने भक्तों के लिये सूक्ष्म जगत में, और यदि आवश्यक हुआ तो, स्थूल जगत में भी रूप धारण करता है। वह एक साथ अनेक रूप धारण कर सकता है।

वह प्रेमस्वरूप है, भागवती प्रेम। हम उससे प्रेम करते हैं और वह हमसे प्रेम करता है। हम चाहे उसे प्यार न करें लेकिन वह हमें प्यार करता है। उसका प्रेम कितना अद्‌भुत है! वह कितना प्रचुर[1] है, कितना प्रचण्ड[2], और इतना आनन्दमग्न करने वाला! वह प्रेम दिव्य है और दिव्यत्व भी। वह श्रेष्ठ प्रेमी है और श्रेष्ठ प्रेमास्पद[3] भी। उसका प्रेम अकथनीय है। जिन्हें उसके अनुभव का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जानते हैं परन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकते। निस्सन्देह प्रेम उसका श्रेष्ठतम पक्ष[4] है।

और अपनी कृपा में वह प्रत्येक के प्रति अति उदार है चाहे वह भक्त हो या न हो। भक्त उसके चरणों में स्वयं को समर्पित करता है वह उसे उठाकर हृदय से लगा लेता है। उसके दान की सीमा नहीं है। वह इतना अधिक देता है कि फिर किसी को माँगने की आवश्यकता नहीं रहती।

वह कितना दयालु, कितना सावधान और कितना सचेत है! वह एक चींटे की भी पदचाप सुन लेता है। उसकी चेतना हम सबको व्याप्त किये है। मानो हम उसके गर्भ में स्थित हों।

विचित्र है यह संसार, भक्त और उसके भगवान[5] का संसार! साधारण अनुभव में आने वाले संसार से यह इतना भिन्न है कि केवल कल्पना प्रतीत होता है। लेकिन ऐसा है नहीं। उसकी ठोस सत्ता है, वह सत्ता जिसको विभिन्न देशों, युगों और मतों के अनेक भक्तों के अनुभव ने प्रमाणित किया है। जैसा उन्होंने अतीत में अनुभव किया है वैसा हम आज अनुभव कर सकते हैं। परन्तु इसके लिये अपेक्षा है सुनिर्देशित प्रयास की, धैर्य की और इसके अतिरिक्त बहुत कुछ और की।

अनन्य भक्ति की आँखों से भगवान दृष्टिगोचर होता है। जब तक वैसी आँखें हमारे पास न हों, हम उसे न पहचान सकते हैं और न देख सकते हैं। यह शुद्ध व्यक्तिगत चेतना का अनुभव नहीं है। यह केवल भक्त के लिये

---

1. विपुल, समृद्ध (rich)
2. तीव्र (intense)
3. प्रेम का पात्र
4. भाव
5. प्रभु, स्वामी

है क्योंकि उसमें दर्शन की अनन्य क्षमता होती है। अनन्यता से उसके अनुभव की आत्मनिष्ठता[1] सिद्ध नहीं होती। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता और समत्व की पूर्णता की उपलब्धि नहीं होती, हमारी आँखें नहीं खुलतीं। (अहंकार की) मृत्यु के द्वार से निकलकर हमें अहन्ता और ममता का त्याग करके पवित्रतम गर्भगृह में प्रवेश करना होगा और प्रेमास्पद भगवान के दर्शन पाकर उसमें लीन होना होगा। उसका दर्शन करना सचमुच ही उसमें लीन हो जाना है। आश्चर्य नहीं यदि संशयात्मा इसे नितान्त कल्पना समझकर इसका तिरस्कार कर दे।

भगवान एक व्यक्ति है। बच्चे की तरह उसके पास जाइये और वह भी माँ की तरह भुजा पसारे आपका स्वागत करेगा, साँसारिक माँ से कहीं अधिक वत्सलता से। परन्तु भागवती माँ का बच्चा बनने के लिये आपमें अभीप्सा[2] होनी चाहिये। जो उसे पिता के रूप में चाहता है उसे वह पिता के रूप में प्राप्त होता है। मित्र के रूप में वह सबसे सच्चा मित्र है। और अन्य प्रकार से भी वह सबका सुहृद है। जो उससे प्रेम करता है उसका वह प्रेमपात्र है, प्रियतम है। जिसे उसके प्यार की तड़प है उसके लिये वह सर्वश्रेष्ठ प्रेमी है। वह मनुष्य है, पूर्ण रूप से मानव।

तार्किक मन यहाँ विफल[3] हो जाता है। वह परमेश्वर के वैयक्तिक भाव को नहीं समझ सकता। "व्यक्तित्व और व्यक्तित्वहीनता का किसी एक ही प्राणी में सहअस्तित्व नहीं हो सकता। परमेश्वर एक ही समय में शरीरी और अशरीरी कैसे हो सकता है? परमेश्वर देश और काल से परे है वह इन मानवीय स्तरों पर कैसे उतर सकता है? वह माता, पिता, सखा इत्यादि कैसे हो सकता है? यह असम्भव है।" तार्किक मन ऐसी शंका करता है? लेकिन फिर भी है यह सत्य। जो सभी भावनाओं से परे है वह किसी भी भावना का प्रदर्शन कर सकता है। जो व्यक्तियों से परे है वह कितने ही व्यक्तियों को प्रकाश में ला सकता है। सत्य को समझने का सर्वोत्तम साधन तार्किक मन नहीं है। हमारे पास इससे भी उत्कृष्ट साधन है और हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ है।

---

1. व्यक्तिपरकता (subjectivity)
2. उत्कट अभिलाषा
3. असफल

तो भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह सब अनुभव भगवान के केवल अल्पकालिक[1] आत्मसीमन से घटित होता है जो सदा अपनी सम्पूर्ण महानता और दिव्यत्व में सबसे परे स्थित है। सभी प्रकार की अभिव्यक्तियाँ परिमितता[2] मात्र हैं। यह मानो असीम भगवान के दर्शन के लिये विभिन्न द्वार हैं। अभिव्यक्तियों को स्वयं भगवान मान लेना अपनी दृष्टि की क्षुद्रता के कारण भगवान का महत्व घटाना है।

वास्तव में भगवान अपनी असीमता[3] के कारण अनुभव का विषय नहीं हो सकता। अनुभव उसके पक्षों के ही हो सकते हैं और जिस प्रकार वे आते हैं वैसे ही उनका चला जाना भी आवश्यक है। ये अनुभव चेतना की अवस्थायें हैं, जबकि भगवान एक पद है जो नित्य है और आने जाने वाली सभी अवस्थाओं में व्याप्त है। वह निरपेक्ष सत् की अनुभूति में भी विद्यमान रहता है। हम उसके विविध पक्षों का अनुभव कर सकते हैं, परन्तु अपने अनुभव से उसकी परिसमाप्ति नहीं कर सकते क्योंकि वह अनन्त है। हम अपनी चेतना को उसकी चेतना में लय कर सकते हैं और इस प्रकार भागवती चेतना-युक्त हो सकते हैं। "हम प्रकाश में प्रवेश कर सकते हैं परन्तु लौ[4] का स्पर्श नहीं कर सकते।"

ईश्वरीय चेतना की उपलब्धि करने वाले व्यक्ति में भगवान का अवतरण होता है। वह एक केन्द्र बन जाता है जहाँ से श्रेष्ठतर प्रकाश फैलता है। उसमें भागवती अग्नि जलती रहती है। लोग उससे अपना दीपक जला सकते हैं। ऐसा व्यक्ति निश्चय ही पृथ्वी पर भगवान बन जाता है, उनकी कृपा का संचारक।

1. अस्थाई, थोड़े समय का
2. सीमितता
3. अनन्तता
4. ज्योति

अध्याय 5

विकास की समस्या

खण्ड 1

परमेश्वर व्यक्त संसार के रूप में प्रकट होता है और उसका अतिक्रमण भी करता है। यह अभिव्यक्ति अव्यवस्थित नहीं है। विकास की क्रिया नियमित होती रहती है, और चेतना अपना प्रस्फुटन करने के लिये आगे बढ़ती रहती है, जैसा हमने अभी पूर्वले पृष्ठों में देखा। इससे अनेक समस्यायें खड़ी होती हैं। यह विकास होता ही क्यों है ? किसका विकास होता है? इसका लक्ष्य क्या है ? इत्यादि इत्यादि। आगामी पृष्ठों में हम इनमें से कुछ समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

अन्ततोगत्वा [1] परमेश्वर अभिव्यक्ति के वर्तमान रूप के लिये उत्तरदायी है। अत: यहाँ होने वाली आत्मिक विकास की क्रिया-विधि के लिये वही उत्तरदायी है। "क्या इस क्रिया से उसका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है? आखिर विस्मयाकुल [2], करने वाली विभिन्नताओं और रौंद [3] डालने वाली यथार्थताओं से पूर्ण इस संसार की आवश्यकता क्या है? क्या इस संसार को रचे बिना वह शान्ति से नहीं रह सकता था?" मनुष्य का मन स्वभावत: इस प्रकार के प्रश्न उठाता है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर साधारणतया यह कहकर दिया जाता है कि यह उसकी लीला है, अर्थात् ईश्वरीय खेल है। परन्तु इससे हमारी जिज्ञासा [4] शान्त नहीं होती। उसे क्रीड़ा करने की क्या आवश्यकता है? वह चुपचाप शान्त क्यों नहीं बैठा रहता बजाय इसके कि इस प्रकार का भयानक खेल खेले जहाँ मौत, रोग और बुढ़ापा परछाईं की भाँति सभी का पीछा करते रहते हैं ?

तथ्य तो यह है कि मानवीय तर्क के पास इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर नहीं है। न कभी ऐसा उत्तर मिल ही सकता है। जब हम इस प्रकार के प्रश्न करते हैं तो हम उस चेतना के सम्बन्ध में विचार करते हैं जो हमारी बौद्धिक चेतना से बहुत ऊपर है। अत: तर्क उस सत्य की एक झलक भी नहीं पा सकता।

---

1. आखिरकार
2. आश्चर्य और भय मिश्रित
3. दलने वाली, पेर डालने वाली, परास्त कर देने वाली
4. जानने की उत्सुकता

चार वर्ष का एक बच्चा प्रतिदिन देखता है कि उसका पिता रोज प्रातः भोजन के उपरान्त बाहर चला जाता है, सन्ध्या समय लौटता है, और उसके लिए खाने की कुछ वस्तुयें लाता है। कभी वह फल लाता है और कभी मिठाईयाँ। बच्चा पूछना चाहता है, "आप रोज प्रातः कहाँ जाते हैं ? पिता जी, आप वहाँ क्या करते हैं ?" पिता इस छोटे-से बच्चे को नहीं समझा सकता कि वह कहाँ जाता है और वहाँ क्या करता है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि बच्चे का मस्तिष्क इतना अपरिपक्व[1] है कि वह इन बातों को समझ नहीं सकता। परन्तु जब वह बच्चा बड़ा होगा तब समझने के योग्य हो जायेगा। तब वह जानेगा कि उसका पिता उसके लिये फल और मिठाई लाने के लिये बाहर नहीं जाता था। उसे एक कार्यालय में काम करना पड़ता था जिससे उसकी जीविका चलती थी।

अपने परम पिता परमेश्वर के सामने हम चार वर्ष वाले बच्चे की स्थिति में हैं। हम उसके विचार जानना जरूर चाहते हैं, लेकिन हम कैसे जान सकते हैं? हमें उन्नति करनी होगी और भागवती चेतना प्राप्त करनी होगी पूर्व इसके कि हम इस अभिव्यक्ति का प्रयोजन पूर्ण रूप से समझ सकें। उच्चतर सत्य के इस क्षेत्र में तर्क की गति नहीं है।

अपने विकास की वर्तमान अवस्था में इस असाध्य[2] समस्या पर माथापच्ची करके अपनी शक्ति नष्ट करने के बजाय यह श्रेयस्कर होगा कि अपनी पूरी शक्ति से हम आगे बढ़ें और उन्नत हों। ऐसा करने से वह समय हमारे पास अधिक शीघ्रता से आयेगा जब हम सत्य को जान जायेंगे, और तब कोई प्रश्न शेष नहीं रहेगा। जो दुराग्राही[3] अपने स्थान से एक इंच भी नहीं हटना चाहते जब तक कि इस विषय पर वे पूर्णतया सन्तुष्ट न हो सकें, वे वास्तव में दयनीय हैं। उन्हें रुकना पड़ेगा और प्रतीक्षा करनी होगी।

हमें तथ्यों को जानने का यत्न करना होगा और उनसे मिलने वाली शिक्षा ग्रहण करनी होगी। ऐसा करने से विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अभिप्राय[4] यथासमय हम पर प्रकाशित कर दिया जायगा। यदि हम ऐसा न करें और सदियों तक इन समस्याओं पर निष्फल चिन्तन करते रहें तो हम यह नहीं जान सकेंगे कि बिना विभक्त हुये और बिना अपनी एकता नष्ट किये

---

1. अविकसित
2. जिसका समाधान (हल) न निकाला जा सके
3. हठ से, जिद से
4. आशय मतलब

परमेश्वर एक से अनेक कैसे हो जाता है। यह क्योंकर होता है कि वह परमेश्वर अपनी एकरूपता नहीं खोता और फिर भी अनेक हो जाता है? एक से अनेक होने के लिये स्थूल वस्तुयें अपना अस्तित्व खोकर विभक्त हो जाती हैं, परन्तु चेतना के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता। वह देश और काल का अतिक्रमण करती है। इसी से एकत्व और द्वैत के भाव उत्पन्न होते हैं। चेतना सर्वव्यापी [1] है। इसके विषय में यह समझना चाहिये कि बिन्दु पूर्ण में रहता है और पूर्ण की स्थिति बिन्दु में है। वृत्त बिन्दु का विस्तार मात्र है। इसका केन्द्र और अन्य अनेक बिन्दु इस वृत्त के अन्तर्गत हैं। रेखागणित का यह उदाहरण चेतना विषयक सत्य की कल्पना को साकार करने में सहायक हो सकता है। इस विषय पर प्रकाश डालने वाला एक और प्रामाणिक उदाहरण है; एक सूर्य पानी भरे अनेक पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है और इस तरह अनेक हो जाता है। सूर्य अकेला ही होने पर भी अनेक हो जाता है। लेकिन ये दृष्टान्त मात्र हैं। हमें तथ्यों को अपनी पकड़ में बनाये रखना है।

हम यह समझ सकते हैं कि परमेश्वर ही विकास के विभिन्न स्तरों में विद्यमान है। परन्तु यह देखने के लिये हमें आँखें चाहियें। जिनके आँखें हैं वे पहचान सकते हैं। जब हमें परम भागवती चेतना प्राप्त हो जाती है तब हम अपने में, और अपने चारों ओर की वस्तुओं में, विभिन्न अवस्थाओं में स्वयं को प्रकाशित करते हुये परमेश्वर को पहचान सकते हैं। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।

विकास की मौलिक इकाई के रूप में परमेश्वर को हम ''चैतन्य-ऊर्जा'' (Conscious Energy) कहेंगे। यह सर्वातीत सत्ता का पूर्ण प्रतीक है जिसके सत् (Being) और सम्भूति (Becoming) दो पक्ष हैं। इस पारिभाषिक शब्द ''चैतन्य-ऊर्जा'' में ''चैतन्य'' सत् का प्रतिनिधि है और ''ऊर्जा'' सम्भूति का। ''चैतन्य-ऊर्जा'' दोनों का उसी प्रकार अतिक्रमण करती है जैसे सर्वातीत सत्ता। अपने भागवती पिता की यह योग्य सन्तान है और दोनों (पिता और पुत्र) सदा अभिन्न हैं। अपनी दीर्घ [2] और दुर्गम [3] यात्रा से यह अपने अनुभवातीत [4] (भागवती) पिता से समरूप होकर प्रकट होता है।

---

1. सब जगह रहने वाली
2. लम्बी
3. दुसाध्य, अति कठिन
4. सर्वातीत, सबसे परे

तथ्यों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि विकास हो रहा है। श्रेष्ठतर विवेचन और मार्ग में दूर तक जाने वाले लोगों का अनुभव यह बताता है कि हम अपनी गति तीव्र कर सकते हैं। हमें चाहिये कि अपनी प्रगति तीव्र करें और निष्फल तार्किक विवाद में समय नष्ट न करें।

खण्ड 2

वह कौन सी वस्तु है जो विकसित होती है? यह दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है।

विकास की प्रक्रिया निर्जीव स्तर के पूर्व के स्तर से लेकर ईश्वरत्व के स्तर तक फैली हुई है। प्रत्येक स्तर में विकास की मूलभूत इकाई एक भिन्न पक्ष प्रस्तुत करती है। एक स्तर पर यह निर्जीव धातु है, दूसरे पर पौधा, फिर पशु; इस प्रकार यह क्रम आगे से आगे चलता है। वह कौन सी वस्तु है जो आदि से अन्त तक विद्यमान रहती है? वह क्या है जो इन विभिन्न रूपों को धारण करती है?

विकासमान प्रक्रिया भागवती चैतन्य अर्थात् दिव्य परमेश्वर के द्वारा सम्पन्न होती है। विकास की मूलभूत इकाई में इसकी उपस्थिति निहित सम्भावना के रूप में अवश्य होगी अन्यथा इसकी अभिव्यक्ति कैसे हो पाती ? इसका वहाँ आत्मनिहित [1] अवस्था में होना आवश्यक है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह निगूढ़ परमेश्वर ही विकास की प्रक्रिया में मूलभूत इकाई है।

परन्तु परमेश्वर एक है, वह अनेक कैसे हो जाता है? यह प्रश्न हो सकता है। यह समझने के लिये हमें ''चैतन्य-ऊर्जा'' का अर्थ और उसका स्वभाव ज्ञात होना चाहिये। चेतना वह है जो मन अथवा इन्द्रियों की प्रत्येक बोधक्रिया में विद्यमान है। परन्तु यह उसका केवल एक पक्ष है। वास्तव में चेतना वह वस्तु है जिसके बिना अस्तित्व किसी भी रूप में प्रभावी नहीं हो सकता, जिसके बिना अस्तित्त्व अस्तित्व ही नहीं रहता। ऊर्जा शक्ति है। शक्ति वह तत्व है जो कहीं भी परिवर्तन उत्पन्न करता है। हम शक्ति (ऊर्जा) के द्वारा अस्तित्व को समझ सकते हैं।

---

1. सॅन्निहित, स्वयं में लीन, छुपा हुआ, अव्यक्त

चैतन्य और ऊर्जा विलग नहीं किये जा सकते। वे दोनों एकत्व[1] में हैं। विश्व में कुछ भी ऐसा नहीं है जो चैतन्य से अमिश्रित शुद्ध-ऊर्जा हो, अथवा ऊर्जा से अमिश्रित, शुद्ध चैतन्य हो। हमारा परिचित जीवन इन दोनों के समागम के बिना असम्भव है। अत: ''चैतन्य-ऊर्जा'' एक ही इकाई है, विकास की मूलभूत इकाई। इसको विविध नाम दिये गये हैं - आत्मा, चिदणु[2] (मॉनैड) अथवा जीव। संक्षेप में हमने इसे ''चैतन्य-ऊर्जा'' पुकारा है। यह संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द यह भी दर्शाता है कि यह सर्वातीत परमेश्वर की चेतना शक्ति है और वस्तुत: परमेश्वर ही है सर्वातीत सत्ता, यद्यपि अन्तर्निहित।

खण्ड 3

मन और द्रव्य : यह द्वैत हमारी चेतना में दृढ़ता से स्थापित है। यह ''आन्तरिक'' और ''बाह्य'' का रूप लेता है, यानी विषयिता[3] और विषयता[4] का। विकासशील इकाई और इसका परिवेश एक दूसरे से पृथक और भिन्न दिखते हैं। परन्तु यह हमारी विश्लेषक चेतना का भ्रम है। भेद सापेक्ष और क्रियामूलक भी हैं जो हमको देखने और समझने के लिये एक आधार बिन्दु देता है। आदत के अनुसार हम दोनों को एक दूसरे से नितान्त भिन्न समझने लगते हैं।

विकास की प्रक्रिया को समझने के लिये हमें यह मानना होगा कि दोनों भिन्न नहीं हैं, चैतन्य पक्ष मन है और ऊर्जा पक्ष द्रव्य है। वे एक ही सत्ता के दो पक्ष हैं और ऐसी दशा में पृथक नहीं किये जा सकते। ऐसा समष्टि[5] के विषय में लागू है और अणु[6] के विषय में भी, जो विकासशील इकाई ''चैतन्य-ऊर्जा'' ही है।

हमारा शरीर कोशिकाओं से निर्मित है। शरीर की एक मनोवृत्ति है और कोशिकाओं की भी; और ''चैतन्य-ऊर्जा'' है जिसकी अभिव्यक्ति और विकास के लिये शरीर एक माध्यम है। कोशिकायें अणुओं से बनी हैं, और अणु परमाणुओं से; और प्रत्येक परमाणु की एक मनोवृत्ति होती है। तब हम

---

1. एक में समाहित (समाये हुये)
2. चिदणु (चित्+अणु)
3. व्यक्तिपरक
4. वस्तुपरक
5. सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड
6. लघु ब्रह्माण्ड

किसे मन कहें और किसे द्रव्य? वस्तुत: यह कहना कि शरीर कोशिका अणु, परमाणु इत्यादि की मनोवृत्ति होती है यथार्थ नहीं है। सत्य यह है कि वे स्वयं मनोवृत्तियाँ हैं; इसके अतिरिक्त वे चाहे और जो कुछ भी हों। वे सभी परमेश्वर की चैतन्य-ऊर्जा हैं जो विकास की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों से होकर गुजर रही हैं।

भीतर और बाहर एक ही सम्भूति का पसारा[1] है। जब हम शरीर से अपने को एक रूप मानते हैं तो यह घर, जिसमें हम निवास करते हैं, और इसके निवासी हमारा परिवेश बन जाते हैं। जब हम स्वयं को संकुचित करके अहंकार में सीमित कर लेते हैं तब यह भावनात्मक और बौद्धिक मन, तथा प्राणमय और स्थूल शरीर हमारे परिवेश बन जाते हैं। जब हमारी स्थिति अहंकार के ऊपर होती है, देश और काल के परे, जब हम सर्वात्मा के साथ अपना ऐक्य स्थापित करते हैं, तब "भीतर और बाहर" कुछ नहीं रहता। परिवेश का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि तब द्वैत नहीं रह जाता।

विकास की एक ही प्रक्रिया सभी में क्रियाशील है। बिना इस बात की अपेक्षा के कि वस्तु विषय सजीव है या निर्जीव, अन्दर है या बाहर, मन है या द्रव्य। सर्वत्र "चैतन्य-ऊर्जा" ही है जो अपने उच्च से उच्चतर पक्षों को विकसित करने के लिये वेग से बढ़ रही है।

अत: यह स्पष्ट है कि प्रत्येक विकासशील इकाई का एक परिवेश होता है और वह स्वयं दूसरी इकाईयों के लिये परिवेश बनती है। यह तथ्य बलों की अनन्त क्रीड़ा के लिये, अनेक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के लिये एक क्षेत्र प्रस्तुत करता है। अत: सभी विभिन्न प्रकार से सम्बद्ध हैं और यह सम्पूर्ण सम्भवन[2] एक महान योग बन जाता है और वह है सर्वातीत परमेश्वर की विकासशील आत्माभिव्यक्ति।

खण्ड 4

हम निरापद रूप से यह मान कर चल सकते हैं कि संचर आत्मनिधान[3] क्रिया अवश्य ही एक तथ्य है। साधारणतया संचर क्रिया से आत्माभिव्यक्ति का निषेध, अर्थात् वास्तविकताओं का सम्भावनाओं में परिवर्तित होना समझा

---

1. प्रसार, फैलाव
2. बनने की क्रिया
3. पुरुष (चेतना) का अपने को प्रकृति में छिपाना, बीजारोपण (देखिये आध्यात्मिक विकास पृ. 10)

जाना चाहिये। परन्तु बात ऐसी नहीं है। परमेश्वर एक क्षण के लिये भी परमेश्वरी स्थिति से विलग नहीं होता। उदाहरणत: मुर्गी अण्डे देती है और वृक्ष में फल होते हैं परन्तु इसके बावजूद भी वे मुर्गी और वृक्ष बने रहते हैं। संचर क्रिया होने पर भी परमेश्वर अनन्त परमेश्वर बना रहता है।

तब प्रश्न उठता है कि ''चैतन्य-ऊर्जा'' के जन्म का कोई समय अवश्य होगा।

विकास (प्रतिसंचर) की भाँति संचर क्रिया भी एक निरन्तर प्रक्रिया है। तथ्य तो यह है कि देश-काल की एक ही प्रक्रिया है जिसके दो पक्ष सत् और सम्भूति तथा संचर और प्रतिसंचर क्रियायें हैं, जिनके द्वारा परमेश्वर की अभिव्यक्ति हो रही है।

''चैतन्य-ऊर्जा'' का आदि है परन्तु इसका आदि अनन्त परमेश्वर में है जो देशातीत[1] और कालातीत[2] है। अत: ''चैतन्य-ऊर्जा'' का प्रारम्भ वास्तव में कोई प्रारम्भ नहीं है। परमेश्वर की भाँति यह भी देश और काल के परे है और उनके माध्यम से व्यक्त हो रही है। प्रारम्भिक स्तरों में कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता। पशु स्तर पर इसका उदय होने लगता है।

परमेश्वर की ''चैतन्य-ऊर्जा'' में विकास की प्रेरणा निहित[3] है। हम यह नहीं बता सकते कि यह क्यों और कैसे निहित है। मालूम होता है कि सम्भावनायें वेग से वास्तविकतायें बनने को प्रयत्नशील हैं। जीव मानो सदा अपनी चरम[4] अनन्तता की उपलब्धि के लिये अभीप्सा करता है। विवेचना से पता चलता है कि जिस परिवेश में जीव रखा गया है उसका प्रयोजन जीव को इस अभीप्सा की पूर्ति कराना है। इसकी ऐसी व्यवस्था की गई है कि ''चैतन्य-ऊर्जा'' के ऊपर परिवेश की क्रिया उसे जाग्रत और त्वरित[5] करती रहती है। गर्मी और सर्दी, सुख और दु:ख, सफलता और विफलता इत्यादि में उसकी प्रसुप्त[6] सम्भावनाओं को प्रेरित करने की प्रवृत्ति[7] है।

1. देश (space) से परे
2. काल या समय से परे
3. छिपी हुई (सम्भावना के रूप में)
4. परम, सबसे अधिक
5. तीव्र गति देना
6. सोई हुई
7. झुकाव

अध्याय 6

विकास की प्रक्रिया

जीव विज्ञान में विकास का अध्ययन एक कोशीय अमीबा[1] (amoeba) से प्रारम्भ होता है और विकासमान प्रक्रिया के चूड़ामणि[2] मानव में समाप्त होता है। विकास के हमारे सर्वेक्षण में जड़ संसार सम्मिलित है क्योंकि उसमें भी चेतना तो (निहित) है। हमारी खोज यहाँ भी विराम नहीं पा सकती। हमें जड़ संसार के पदचिन्हों पर पीछे लौटकर उसके अस्तित्व के आदि कारण सर्वेश्वर तक पहुँचना होगा।

साधारण बोलचाल में विकास केवल जैवी वर्ग के प्रकटन को इंगित करता है। इसमें एक प्रकार की उन्नति का भी अर्थ लक्षित होता है। हम विकास शब्द का प्रयोग अधिक विस्तृत अर्थ में करते हैं। विकास का अर्थ है बाहर निकलना, खिल जाना। यहाँ आशय यह है कि कुछ छिपा हुआ बाहर निकल रहा है; कि नितान्त नई वस्तु का सृजन नहीं हो रहा। केवल सम्भावनाओं का यथार्थीकरण[3] हो रहा है। इसी कारण संचर (आत्मनिधान) और प्रतिसंचर (विकास) साथ-साथ होते रहते हैं। हम इस शब्द का प्रयोग अणुओं और परमाणुओं के निर्माण के लिये उसी प्रकार करते हैं जैसे कि मानवीय शक्तियों और जीव की शारीरिक क्रियाओं के विकास के लिये।

विकासमान इकाई, अर्थात् 'चैतन्य-ऊर्जा' संचर क्रिया के माध्यम से स्वयं परमेश्वर होने के कारण, अनन्त है। परमेश्वर की चेतना अनन्त होगी ही। हम आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विकास की यह प्रक्रिया अनन्त है यानी जिस ऊँचाई तक जीव विकास कर सकता है उसकी इति नहीं है। अत: जीव के सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते कि एक समय आयेगा जबकि इस प्रक्रिया की परिसमाप्ति हो जायेगी।

यह भी निश्चित रूप से परिलक्षित होता है कि चैतन्य-ऊर्जा का उत्थान विकास क्रम के साथ ही धीरे-धीरे हो रहा है। इस प्रकार यह अपने लक्ष्य के पास पहुँच रही है और वह लक्ष्य है परमेश्वर का पूर्ण स्फुटन[4] (unfoldment), अर्थात् भागवती चेतना की उपलब्धि।

---

1. एक कोष्ठक (सेल) का जीवाणु
2. सिरमौर
3. मूर्त रूप देना, साकार करना
4. जैसे फूल की पत्तियों का पूरा खिल जाना

प्रत्येक क्षण हम आगे बढ़ाये जा रहे हैं, अधिक से अधिकतर की ओर, शक्ति से अधिक शक्ति की ओर, न्यून[1] ज्ञान से बृहत[2] ज्ञान की ओर, और न्यूनतर तथा क्षुद्र से उच्चतर और महत्तर प्रसन्नता की ओर। विकास-प्रक्रिया में प्रत्येक कदम पर हम आगे बढ़ रहे हैं और ऊँचे उठ रहे हैं। आध्यात्मिक विकास की एक निश्चित दिशा है और उसका एक निश्चित लक्ष्य है। देश और काल के परे पहुँचने पर यह निश्चितता निस्सन्देह विलीन हो जाती है। परन्तु यह अज्ञात वस्तु के लिये अन्धे की खोज की भाँति नहीं है।

परिवेश और विकासमान इकाई में ऐक्य है, यह हम पहले देख चुके हैं। परमेश्वर इस विश्व के रूप में विकसित हो रहा है, विश्व जो उसकी चैतन्य-ऊर्जा के विकास का क्षेत्र बन जाता है, और वह स्वयं इस परिवेश में आत्मनिहित भगवान के रूप में प्रवेश कर जाता है। इस परिवेश का उपादान[3] और इसकी प्रकृति उसी प्रकार की है जैसे कि चैतन्य-ऊर्जा की, परन्तु विकासमान चैतन्य-ऊर्जा से उसे भिन्न मान लेना पड़ता है अन्यथा हम तथ्यों के समझने में समर्थ नहीं होंगे।

ब्रह्माण्डी विकास की एक तरंग विश्वमन (महत्), अहंकार (विभेदकारी तत्व), विभिन्न कोटि के परमाणु, इन्द्रियों और इन्द्रियकरणों (sense organs) को उत्पन्न करती है। अपने सूर्यों एवं तारागणों, पृथ्वी और उसके प्रतिरूपों, अर्थात् सूक्ष्म लोकों, सहित इस विश्व का जन्म होता है। हमें दिखाई देने वाली यह विशाल प्रदर्शनी हमारे सामने उपस्थित हो जाती है।

एक और तरंग आती है। आत्मनिहित भगवान, जो परमेश्वर की चैतन्य-ऊर्जा है, इस संसार को अनुप्राणित करता है, इस परिवेश में प्रवेश करता है जिससे इसकी प्रगति और उत्थान[4] हो सके और इसमें छिपी हुई[5] अनन्त सम्भावनाओं का पूर्ण प्रस्फुटन हो सके।

यह चक्कर खिलाने वाले ऊँचे विचार हैं। इनसे पाठक भ्रमित हो जाता है। हम परिवेश और उसे अनुप्राणित करने वाली चैतन्य-ऊर्जा की सत्यता

---

1. थोड़ा
2. बड़े
3. द्रव्य, भौतिक सामग्री (stuff)
4. ऊपर उठना, प्रगति करना
5. हालाँकि यह सोपाधिक कथन है। आत्मनिहित भगवान के अनुप्राणिक तत्व के बिना किसी पदार्थ का अस्तित्व हो कैसे सकता है ? यह समझना कि देही के आगमन के पूर्व ही परिवेश तैयार हो जायेगा, बालबुद्धि है। परिवेश का निर्माण करने वाली और उसमें (प्राण) आत्मा डालने वाली एक ही तरंग हो सकती है। दोनों अविच्छेद्य हैं। - लेखक

को स्वीकार कर चलेंगे। हमें पग-पग पर विकसित होने वाली चैतन्य-ऊर्जा के इतिहास का पता लगाना है। हम वहाँ से प्रारम्भ करेंगे जहाँ हम इसे इसके परिवेश से स्पष्टतया अलग पहचान सकते हैं। लेकिन प्रारम्भ करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि हम क्या ढूँढ रहे हैं।

सर्वातीत परमेश्वर सच्चिदानन्द[1] है - सत् (अस्तित्व), चित् (ज्ञान) और आनन्द। सारी सत्ता की उत्पत्ति उसी से है, सारे ज्ञान और आनन्द की भी। उसकी चैतन्य-ऊर्जा की प्रकृति भी अवश्य ही उसी प्रकार की होगी। एक बीज में वृक्ष सम्भावना के रूप में रहता है। आम का बीज आम का पेड़ उत्पन्न कर सकता है और सेब का बीज सेब का पेड़। इसी प्रकार परमेश्वर की यह चैतन्य-ऊर्जा जो एक प्रकार से परमेश्वर का बीज है, परमेश्वर उत्पन्न कर सकती है। जैसे-जैसे विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती है वैसे ही आत्मनिहित परमेश्वर धीरे-धीरे प्रकाश में आता है।

सत् का अर्थ है अस्तित्व (सत्ता)। यह क्रिया की, रूपान्तरण की और प्रतिकार की शक्ति का द्योतक है। यह परमेश्वर का शक्ति[2] पक्ष है। यही विश्व को धारण करता है। जीव के विकास के साथ-साथ यह अधिक सशक्त हो जाता है। क्रिया की, रूपान्तरण की और प्रतिरोध[3] की बलवत्तर क्षमता इसमें पैदा हो जाती है। संक्षेप में इसकी प्रभावपूर्णता में वृद्धि हो जाती है।

चित् का अर्थ है ज्ञान। चित् ज्ञान से अधिक विस्तृत शब्द है और चेतन, अवचेतन, अचेतन तथा अतिचेतन सभी प्रक्रियाओं में क्रियाशील मूलभूत विशिष्ट[4] गुण की ओर संकेत करता है। परमेश्वर सभी कुछ पूर्ण रूप से जानता है अर्थात् वह सर्वज्ञ[5] है। विकास में उन्नति के साथ ही जीव में ज्ञान की इस क्षमता में वृद्धि होती है।

आनन्द परम सुख (bliss) है। यह शुद्ध हर्ष है जिसमें प्रतिक्रिया सम्भव नहीं। अपने जीवन के प्राप्तिबोध का यह स्वाभाविक प्रतिफल है। ऐन्द्रिक[6]

---

1. यह प्रश्न हो सकता है : तब फिर इस संसार में मृत्यु, अज्ञान और दु:ख क्यों होते हैं? यह सर्वातीत परमेश्वर है जो सच्चिदानन्द है। जब वह निहित हो जाता है तब उसका यह प्रभाव प्रकट नहीं होता। मृत्यु, अज्ञान और दु:ख का यही कारण है। - लेखक
2. शक्ति बल है - लेखक
3. विरोध, मुकाबला
4. दूसरों से अलग करने वाला
5. सब जानने वाला
6. इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले

सुख और मानसिक प्रसन्नता से यह बहुत श्रेष्ठ है। आनन्द स्थाई होता है और सन्तृप्ति[1] से भर देता है जबकि ये अन्य सुख न तो स्थाई हैं और न तृप्त करते हैं। प्रत्युत वे कामना को तीव्र करते हैं। स्थाई शान्ति से आनन्द की उत्पत्ति होती है जिसे कुछ भी भंग नहीं कर सकता। विकास के साथ -साथ जीव में आनन्द की अनुभूति की योग्यता बढ़ती है। विकास में जीव जितना ही उन्नत होगा उतने ही ऊँचे हर्ष की अनूभूति इसे हो सकती है।

हम जानते हैं कि चेतना के तीन पक्ष होते हैं - संज्ञान, संकल्प और संवेदन[2]। संज्ञान चित् पक्ष है। संकल्प सत् पक्ष को इंगित करता है और संवेदन आनन्द पक्ष को। जिनको हम चेतना कहते हैं वह अपने तीन मूलभूत पक्षों, सत्, चित् और आनन्द में परमेश्वर की प्रतिनिधि है। विकासमान "चैतन्य-ऊर्जा" अर्थात् जीव (आत्मा) विकास[3] में प्रगति के साथ-साथ अधिकाधिक चेतना का उन्मीलन (प्रकटन) करता है। विकास की प्रक्रिया के अध्ययन में हमें इनका ध्यान रखना होगा।

संज्ञान के कई स्तर हैं। हम मानुषी संज्ञान से परिचित हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान (perception), प्रत्यय[4] (conception) तथा उद्भावना[5] (ideation) इसके तीन स्तर हैं। पशुओं में प्रत्यक्ष ज्ञान और कदाचित कुछ मात्रा में प्रत्यय सम्भव है। पौधों में केवल प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और वह भी मोटे प्रकार का। संज्ञान का मूलभूत पक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहाँ हम देखते हैं कि परिवेश (environment) से कोई उत्तेजना (stimulus) किसी भी रूप में अंकित की गई है, हम जानते हैं कि वह संज्ञान है। जब तक कर्म का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान न हो तब तक प्रतिक्रिया सम्भव नहीं होती। अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रतिक्रिया की उपस्थिति संज्ञान का प्रमाण है, और इसलिये चेतना का भी।

---

1. पूर्ण सन्तोष का भाव
2. भाव प्रवणता, भाव को प्रतीत करने की सामर्थ्य देखिये पृ. 13
3. ऊर्जा के स्पर्श से अछूती शुद्ध चेतना एक यथार्थ तथ्य न होकर केवल मानसिक कपोल कल्पना है। साधारण अर्थों में और यहाँ प्रयुक्त शब्द चेतना से चैतन्य-ऊर्जा की अभिव्यक्ति अभिप्रेत है। - लेखक
4. अवधारण, परिकल्पना
5. विचार की प्रक्रिया

अपने संज्ञान पक्ष में ''चैतन्य-ऊर्जा'' परिवेश को अंगीकार करती है अर्थात् समझती है। मौलिक रूप में ''चैतन्य-ऊर्जा'' का सबके साथ ऐक्य है। वास्तव में परिवेश परिवेशित चैतन्य-ऊर्जा से भिन्न नहीं है। इसी एकात्मता के कारण उत्तेजना की क्रिया तथा ''चैतन्य-ऊर्जा'' के द्वारा उसका अंकन सम्भव होता है। परिवेश के प्रति मात्र जागरूकता का होना संज्ञान है।

इच्छा और क्रिया संकल्प के रूप हैं। मौलिक रूप से परिवेश में परिर्वतन होने से संकल्प के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। संकल्प के रूप में चैतन्य-ऊर्जा स्वयं को परिवेश में क्रियाशील होने के लिए मुक्त कर देती है। यह विमुक्त [1] हुई ऊर्जा शारीरिक, भावनात्मक, बौद्धिक या आत्मिक बल का रूप ले सकती है। परिवर्तन का विस्तार जितना अधिक होगा, क्रिया की कोटि और स्तर जितने ऊँचे होंगे, और परिवेश पर उनका परिणामित फल जितना विशाल और उच्च होगा, उतना ही अधिक बड़ा संकल्प होगा।

संवेदन भावना है। आत्म संशोधन संवेदन के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। स्वयं पर क्रिया करने वाला बल चैतन्य-ऊर्जा द्वारा विमुक्त [1] किया जाता है। यह कर्ता के शारीरिक, भावनात्मक, बौद्धिक और आत्मिक पक्षों का संशोधन करता है। यह बल आत्मिक स्तर तक पहुँच सकता है, या फिर शारीरिक और भावनात्मक स्तर तक पहुँच कर रुक सकता है। साधारणतया कहा जाता है कि संवेदन मनुष्य के भावनात्मक पक्ष को निर्देशित करता है। परन्तु चेतना के एक पक्ष के रूप में हमें इसकी मूलभूत प्रकृति को समझना होगा।

संकल्प चैतन्य-ऊर्जा का बहिर्गमन [2] है जबकि संवेदन उसकी अपने ऊपर होने वाली क्रिया है। संज्ञान के अभाव में अर्थात् परिवेश का ज्ञान प्राप्त किये बिना, दोनों में से कोई भी सम्भव नहीं। बिना परिवेश का ज्ञान प्राप्त किये और बिना उसकी उत्तेजना को अंकित किये किसी प्रतिक्रिया की सम्भावना किंचित् भी नहीं है।

वास्तविक व्यवहार में चेतना के तीनों पक्ष एक दूसरे से विलग नहीं किये जा सकते। प्रत्येक क्रिया में वे विभिन्न मात्रा में वर्तमान रहते हैं। साधारणतया संज्ञान से संकल्प बनता है और फिर संवेदन। प्रारम्भिक

---

1. छूटी हुई
2. बाहर निकलना

अवस्थाओं में यह क्रिया यान्त्रिक[1] होती है। प्रत्येक उत्तेजना (stimulus) संज्ञान उत्पन्न करती है और विषयी (चेतन पदार्थ) की क्षमता के अनुसार संकल्प और संवेदन संज्ञान का अनुसरण करते हैं, और इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

विकास की उच्चतर अवस्था में ऐसा होता है कि चैतन्य-ऊर्जा आत्म चेतना बन जाती है और स्व-संचालित क्रिया सम्भव हो जाती है। हम विकास की केवल एक दिशा से परिचित हैं। यहाँ चैतन्य-ऊर्जा निर्जीव स्तर से वानस्पतिक योनि में जाती है और वहाँ से क्रमानुसार पाशविक और मानवीय यानियों में; और उसकी चरम परणति भागवती चेतना में होती है। अपने चारों ओर विद्यमान तथ्यों के निरीक्षण से हमें विकास की दिशा का ज्ञान होता है। जैसा आगे हम देखेंगे इस मार्ग में दु:ख, रोग और मृत्यु अवश्यम्भावी हैं और उसी प्रकार सुख, स्वास्थ्य और जीवन भी। यह सब कितना विशाल है, और यह है अनन्त भागवती शक्ति का क्रीड़ा स्थल! कौन जानता है कि विकास की कौन-कौन सी अन्य दिशायें विद्यमान हैं? हम अपने ही विकास के मार्ग तक अपना अध्ययन सीमित रखेंगे। यही हमारे लिये तात्कालिक महत्व का विषय है।

आत्मनिहित परमेश्वर मानवी बुद्धि के लिये एक रहस्य है। उस प्रथम अवस्था का पता लगाने की चेष्टा करना जहाँ से आत्मनिधान का प्रारम्भ होता है, निराधार कल्पना के विकट जाल में फँसना है। यह चीजें मानवी मन की पकड़ के परे हैं और हम उनकी धर पकड़ नहीं करेंगे[2]। (प्राणहीन) निम्नतम स्तर जहाँ हम चैतन्य-ऊर्जा की उपस्थिति का पता लगा सकते हैं; जड़ अवस्था है - सूक्ष्म भूतों की अवस्था।

जड़ शब्द भ्रामक है क्योंकि हम जानते हैं कि सूक्ष्म भूत सांस लेते हैं यद्यपि निश्चय ही अपने अनोखे ढंग से। परमाणु सूक्ष्म रूप में एक विश्व है, जो गतिपूर्ण है। द्रव्य हमें क्रियाहीन और चेतनाहीन जान पड़ता है क्योंकि द्रव्य में विद्यमान ये लक्षण इतने सूक्ष्म कोटि के होते हैं कि मनुष्य की दृष्टि में नहीं आ सकते। वैज्ञानिक चक्षु, अर्थात् सूक्ष्मग्राही[3] यन्त्र, हमें उनकी उपस्थिति का प्रमाण देते हैं।

---

1. यन्त्र के चलने के समान
2. हम उन्हें दरकिनार करेंगे
3. संवेदनशील

हम मानते हैं कि परमाणुओं में क्रिया होती है परन्तु कैसे ? क्या उनमें किसी प्रकार की चेतना होती है ? पहली दृष्टि में हम कह सकते हैं कि जहाँ ऊर्जा होती है वहाँ चेतना अवश्य होती है क्योंकि सत्ता (reality) के दो पक्ष होने के कारण वे अविच्छेद्य[1] हैं। इसके अतिरिक्त हमें इसके वैज्ञानिक प्रमाण भी मिलते हैं।

सूक्ष्म भूतों में निश्चित गुण होते हैं। कतिपय तत्वों से उनका साम्य होता है और अन्य तत्वों से वैषम्य[2]। दबाव, ताप और विद्युतीय प्रभावों से उन पर अपने अपने ढंग से विशेष प्रकार की प्रतिक्रियायें होती हैं। उनके भौतिक और रासायनिक गुणों के कारण हम उनका एक दूसरे से विभेद[3] कर सकते हैं। एक विशेष प्रकार से प्रतिक्रिया करने की क्षमता यह दिखाती है कि उनमें उत्तेजना का कुछ न कुछ अंकन अवश्य होता होगा अन्यथा व्यवहार का कोई निश्चित स्वरूप[4] कैसे सम्भव होता? इससे परमाणुओं[5] में चेतना की उपस्थिति का संकेत मिलता है।

सूक्ष्म भूतों[6] के इस स्तर पर स्वप्रेरित क्रिया असम्भव है। यह मानो एक प्रकार के परिवेश की उत्तेजना का यान्त्रिक अंकन है और वैसी ही प्रतिक्रिया। ऐसा प्रतीत होता है कि सूक्ष्म भूतों में कहीं अदृश्य प्रतिक्रिया-यन्त्र छिपा हुआ सुरक्षित है। वे स्वयं अपने व्यवहार में संशोधन नहीं कर सकते।

सूक्ष्म भूतों में संज्ञान, संकल्प और संवेदन - चैतन्य-ऊर्जा के तीनों पक्ष - प्रारम्भिक अवस्था में रहते हैं। परिवेश का कितना छोटा अंश एक सूक्ष्म भूत (मूल तत्व) ग्रहण कर सकता है? यह उतना ही ग्रहण करता है जिसके प्रति वह प्रतिक्रिया कर सकता है। जैसे उष्णता, शीत, दबाव इत्यादि। जहाँ तक हम भौतिक विज्ञान के अध्ययन से जान सके हैं सूक्ष्मतर कम्पनों, भावनाओं और विचारों के प्रति यह संवदेनहीन हैं। उनमें एक अत्यन्त ही सीमित कोटि का संकल्प होता है। किसी सूक्ष्मभूत की क्रिया परिवेश में परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है, परन्तु वनस्पति और पशुओं की क्रिया की तुलना में एक सीमित मात्रा में।

---

1. जिन्हें अलग नहीं किया जा सके
2. विषमता, भिन्नता
3. फर्क
4. ढ़ाँचा
5. हम सहज ही मान लेते हैं कि हमें इस प्रकार के अंकन की विधि का ज्ञान नहीं है परन्तु अपने अज्ञान के आधार पर हम यह स्थापित तथ्य टाल नहीं सकते। - लेखक
6. मूल तत्वों (elements)

सूक्ष्म भूतों में संवदेन भी न्यून होता है। प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सूक्ष्म भूत संशोधित हो जाते हैं परन्तु स्वल्प मात्रा में। अधिक साधारणतया वह बाहरी क्रिया ही है जो परिवर्तन उत्पन्न करती है न कि उसकी अपनी क्रिया का अपने ऊपर होने वाला प्रतिघात [1] (reprecussion)। हमें रेडियो-एक्टिव पदार्थों में इस प्रकार का प्रतिघात मिलता है।[2]

सूक्ष्म भूतों की चैतन्य-ऊर्जा प्रारम्भिक स्तर की कही जा सकती है। इसका स्तर पशुओं और पौधों में पाये जाने वाले जैवी स्तर से नीचा होता है। जीवन के विशिष्ट लक्षण जैसे जन्म, उपचय[3], अपचय[4], मृत्यु, सन्तानोत्पत्ति, जीवन के लिये संघर्ष इत्यादि जो हम पौधों और पशुओं में पाते हैं, उनका सूक्ष्म भूतों में अभाव रहता है। यह एक मौलिक सार[5] है जो सूक्ष्म भूतों में भरा रहता है और उनके लक्षणों को निर्धारित करता है। (उनमें) अभी तक जीवनी शक्ति का विकास नहीं हुआ है।

इस अध्ययन में द्वैत की एक भावना बार-बार मस्तिष्क में बलात् घुसती रहती है। इस प्रकार हम चेतना को उसकी अभिव्यक्ति के वाहन (माध्यम) से नितान्त भिन्न समझने के लिये प्रेरित हो सकते हैं, परन्तु ऐसा करना भूल होगी। सूक्ष्म भूत ''चैतन्य-ऊर्जा'' के प्रकटीकरण के माध्यम हैं। विकास की आवश्यकता ने ये वाहन उत्पन्न किये हैं। यह एकत्व है जिसका विकास होता है, और यह विकास समग्रता में होता हैं। रूप और क्रिया विकसित होने वाली चैतन्य-ऊर्जा का प्रकाशमात्र है। आगे बढ़ने के पूर्व हमें इस तथ्य को स्मरण कर लेना चाहिये।

---

1. क्रिया के उत्तर में होने वाला जवाब
2. रेडियम शनैः शनैः स्वयं को विकीर्णित करता हुआ सीसा में परिवर्तित हो जाता है - लेखक
3. वृद्धि
4. क्षय, ह्रास
5. यह चेतन ऊर्जा के प्रारम्भिक स्तर का वाहन है जिसमें मानव की विशेष क्षमताओं का रंचमात्र भी नहीं - लेखक

अध्याय 7

प्राण

पिछले पृष्ठों में ऊर्जा का अध्ययन सूक्ष्म भूतों के स्तर पर किया जा चुका है। इसके बाद का और अधिक ऊँचा स्तर वनस्पति राज्य का है जो पूर्व के स्तर से बहुत भिन्न है। इस भिन्नता का कारण यह है कि यहाँ पर एक नया तत्व प्रकाश में आता है और वह तत्व है प्राण।[1]

विकास क्रम के किसी भी स्तर पर हमें कोई भी वस्तु नितान्त नई नहीं मिलती। भविष्य में विकसित होने वाली सभी क्षमताओं के बीज पूर्वले स्तरों में पाये जाते हैं चाहे वे कितने ही अस्पष्ट क्यों न हों। सूक्ष्म भूतों का भी जीवन होता है। वे जन्मते हैं, जीवित रहते हैं और मरते हैं। परन्तु सूक्ष्म भूतों के जीवन की ये क्रियायें इतनी निर्बल[2] (passive) और प्रभावहीन होती हैं कि अपने अध्ययन में हमने इन पर ध्यान ही नहीं दिया। चैतन्य-ऊर्जा जैसे ही सूक्ष्म भूतों के स्तर से निकलकर वनस्पति की दशा में प्रवेश करती है, यह प्रारम्भिक और अनगढ़ जीवन पूर्ण विकसित जीवनी शक्ति का रूप ले लेता है।

जीवनी शक्ति को प्राण या 'अनिमा' कहते हैं। प्राण और ''अनिमा'' ये दोनों पारिभाषिक शब्द 'अन' क्रिया से बनते हैं जिसका अर्थ है सांस लेना। सांस लेना प्राण का लक्षण है। हम इसे जीवनी शक्ति कह सकते हैं क्योंकि यह जीवन देती है।

साधारणतया यह माना जाता है कि जीवन एक घटना है जो शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है। इन परिवर्तनों के रुकते ही, ऐसा माना जाता है कि जीव का अन्त हो जाता है और यह घोषित किया जाता है कि मृत्यु हो गई। जीवन के प्रति यह नितान्त[3] जड़वादी दृष्टि है। जड़वादी या भौतिकवादी समझता है कि सांस के छूटते ही सभी समाप्त हो जाता है और जीवन का कोई अंश शेष नहीं रहता।

---

1. प्राण जीवनी शक्ति है जिसके प्रभाव से देह की जीवन सम्बन्धी क्रियायें होती हैं - लेखक
2. निश्चेष्ट, निष्क्रिय
3. अत्याधिक, चरम

आजकल की वैज्ञानिक खोजों के प्रकाश में अब इस दृष्टिकोण का कोई महत्व नहीं रह गया है। द्रव्य को अब भौतिक अस्तित्व की अन्तिम और अवियोज्य[1] इकाई नहीं माना जाता। विद्युत ऊर्जा ने अब इसका स्थान ले लिया है। यह विद्युत ऊर्जा विकिरण (रेडियो) क्रिया के रूप में भी प्रकट होती है। परमाणु (atoms) केवल विद्युतीय ऊर्जा के पुञ्ज हैं जिन्हें तोड़कर ऊर्जा का विमोचन[2] किया जा सकता है।

यान्त्रिक बल के रूप में ऊर्जा द्रव्य पर क्रिया करती है और गति को जन्म देती है। ताप और प्रकाश के रूप में भी यह कार्य करती है तथा विद्युतीय और चुम्बकीय बल की भाँति भी। द्रव्य स्वयं में निष्क्रिय है अर्थात् स्वयं अपना संचालन करने में असमर्थ है। यह ऊर्जा है जो उसका संचालन करती है।

परमाणुओं में विद्युतीय ऊर्जा की व्यवस्था भिन्न-भिन्न होती है इसलिये उनके विशिष्ट गुण भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। परमाणुओं के विभिन्न क्रमों और व्यवस्था के आधार पर अणुओं की प्रकृति निर्धारित होती है और उनके गुण भी।

इन सभी विचारों से हम निरापद रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ऊर्जा प्राथमिक है, न कि द्रव्य। भौतिकवादी पर्याप्त गहराई से देखने से इन्कार करता है। उसका मत है कि रासायनिक प्रक्रियाओं में एक प्रणाली[3] है और अर्थपूर्ण व्यवस्था भी है, और यही जीवन का कारण है। वह इस बात का पर्याप्त कारण नहीं बता सकता कि रासायनिक प्रक्रियाओं में ऐसी प्रणाली और ऐसी व्यवस्था क्यों है। वास्तव में स्वयं इन सूक्ष्म भूतों से ऊँचे स्तर की कोई वस्तु अवश्य होगी जो उनको नियमानुसार प्रेरित कर सके और उनकी अन्तर्क्रियाओं[4] द्वारा, अर्थात् रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके। यह है प्राण।

स्वयं अपना पोषण करने वाली ऊर्जा का मूल तत्व प्राण है। विकास क्रम में यह सूक्ष्म भूतों से श्रेष्ठतर है अतः उनको प्रभावित कर सकता है। यह उन पर क्रिया[5] करता है, उनको संगठित करता है, उनके पारस्परिक

---

1. अटूट, अविलोपनीय (indissoluble)
2. बन्धन से छोड़ना, मुक्त या प्रसारित करना
3. कार्य करने का तरीका
4. पारस्परिक क्रिया (interaction)
5. सूक्ष्म भूतों को यह प्राणिक तन्तुओं के रूप में व्यवस्थित करता है। यह इसका विशिष्ट कार्य है। - लेखक

सम्बन्धों की व्यवस्था करता है और इस प्रकार भौतिक धरातल पर जीवन के उदय को सम्भव बनाता है। पौधों, पशुओं और मनुष्यों में जीवन का श्रेय इसी को है। ज्यों ही प्राण तत्व निकल जाता है, शरीर को निर्माण करने वाले भूतों (तत्वों) के संगठन का और रासायनिक प्रक्रियाओं की व्यवस्था का अन्त हो जाता है। तोड़-फोड़ करने वाले प्रभावों की प्रचण्डता[1] के अनुसार देह या तो शीघ्रता से या धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो जाती है। जब प्राण की क्रिया बन्द हो जाती है, जैसा कि जानवरों की दीर्घकालीन प्रसुप्तावस्था में होता है, तब विघटन नहीं होता वरन् जीवन की प्रक्रियायें रुक[2] जाती हैं।

जिस ऊर्जा से हम आमतौर पर परिचित हैं वह बहुत निम्न स्तर की है। अर्थात् सूक्ष्म भूतों के स्तर की। यह अन्धी प्रेरणा की क्षमता है जिसमें संकल्प या स्वसंचालन[3] की शक्ति नहीं होती। ताप, प्रकाश[4] और विद्युत इत्यादि का क्रिया क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और उनकी सहज प्रकृति द्वारा वह क्षेत्र पहले से ही निर्धारित कर दिया जाता है। उनको चुनाव करने का बिल्कुल अवसर नहीं दिया गया। परन्तु प्राण एक अधिक ऊँचे स्तर की ऊर्जा है। विकास क्रम में सूक्ष्म भूतों के स्तर के उपरान्त इसका आगमन होता है। अत: सूक्ष्म भौतिक ऊर्जा की अपेक्षा इसमें हर प्रकार से अधिक कार्य सम्पादन की योग्यता होती है। इसकी क्रियाओं की ओर ध्यान दिलाने के लिये हम प्राण को जैवी शक्ति कह सकते हैं। यह जीव-धारियों की शक्ति है, सूक्ष्म भूतों की ऊर्जा नहीं। इसमें सप्रयोजन क्रिया करने की क्षमता है अर्थात् इसकी क्रिया किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये होती है। यह सर्वाधिक उचित मार्ग चुनती है और आपात स्थिति में नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढ़ाल लेती है जिससे कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति अविलम्ब कर सके। यह सूक्ष्म भूतों पर क्रिया करती है और उनके द्वारा जीवन के जटिल प्रपंच को साकार[5] करती है। यह अपने अधिकार क्षेत्र में विशाल बोध का, विलक्षण बुद्धि का प्रमाण देती है। पौधों और पशुओं में

---

1. उग्रता, शक्ति की मात्रा
2. अस्थाई रूप से
3. स्वयं को दिशा देने की क्षमता नहीं होती
4. प्रकाश निस्सन्देह कोनों पर घूम जाता है - लेखक
5. प्रकट करना, आकार देना (manifest)। (रूप देती है।)

होने वाली इसकी क्रियाविधि से मनुष्य चकित हो जाता है। इसी को हम सामान्यतया प्रकृति कहते हैं। हम इसके कार्यों का अध्ययन थोड़े विस्तार से करेंगे।

प्राण को प्राण इसलिये कहते हैं कि यह श्वास क्रिया का आरम्भ करता है। यह जीवन की मूलभूत क्रिया है। यह जीवन के प्रवाह को बनाये रखने का आधार है। जीवन की वृद्धि और उसका नवीनीकरण दोनों इस पर आश्रित हैं। प्राणी वायु ग्रहण करते हैं, आवश्यकतानुसार कार्बन या आक्सीजन ग्रहण करते हैं और उनकी सहायता से पुरानी और टूटी-फूटी कोशिकाओं के स्थान पर नई कोशिकाओं का निर्माण करते हैं। जीवन की अन्य प्रक्रियायें, जैसे रक्त-संचार, पाचन, आत्मसात[1] करना, रेचक[2] इत्यादि श्वास क्रिया पर निर्भर हैं। श्वास के रुकने पर इन सबका अन्त हो जाता है। श्वास क्रिया उस समय रुकती है जब प्राण प्रभावहीन हो जाता है या उसका अभाव हो जाता है।

इसके उपरान्त आत्मरक्षा की बारी आती है। प्राणियों में बाहरी सहायता के बिना अपना उपचार करने की योग्यता होती है। एक देह को विषाक्त होने से बचाने के लिये हजारों ल्यूकोसाइट (सफेद रक्तकण) घाव के आसपास दौड़े आते हैं। विचक्षण[3] रोगाणुओं से बचाव के लिये प्रतिरोगाणुओं (antibodies) का उत्पादन शरीर में स्वतः होता रहता है ताकि रोग को शरीर से निकाल बाहर किया जा सके। इस प्रकार सावयव जीवन की सुरक्षा के लिये प्राण बड़ी बुद्धिमत्ता से कार्य करता है। जीव विज्ञान के अध्ययन से हम यह विस्तार पूर्वक जान सकते हैं।

आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति जीवन को कायम रखने की दृढ़ इच्छा होने का प्रमाण है।[4] यह 'सत्' पक्ष है, चैतन्य-ऊर्जा का संकल्प जो जीवन-रक्षक प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होता है। इसके 'चित्त' पक्ष यानी बोध को 'सत्' पक्ष की सहायता करनी पड़ती है और इस प्रकार विकास में उसका उदय

---

1. अपने में मिलाना (aassimilation), परिपाचन
2. अवांछित तत्वों को बाहर फेंकना
3. चतुर
4. पतञ्जलि के योग दर्शन में इसे 'अभिनिवेश' नाम दिया गया है - भौतिक जीवन से चिपटे रहने की प्रवृत्ति। - लेखक

''सत्'' के साथ-साथ होता है। श्वास-क्रिया, जीवन की गौण प्रक्रियाओं की उत्पत्ति, और प्राणी देह को अक्षुण्ण्[1] बनाये रखने के विलक्षण्[2] प्रयास, ये सभी एक ही दिशा में होने वाले प्रयत्न हैं और ठीक क्रम से एक दूसरे के बाद किये जाते हैं। प्रत्येक अपने पूर्वगामी[3] प्रयत्न से उत्पन्न होता है और जीवन के क्षेत्र को विस्तृत करता है। प्रजनन यानी सन्तानोत्पत्ति उसी दिशा में दूसरा कदम है।

व्यक्ति का ही विस्तार है जाति। प्रजनन विस्तृत अर्थ में आत्मरक्षा ही है। माता-पिता ही सन्तान के रूप में जन्म लेते हैं और जीवित रहते हैं। अधिक विशाल क्षेत्र और अधिक विस्तृत अर्थ में उसी 'जीवन कायम रखने की दृढ़ इच्छा' की यह पूर्ति है। सूक्ष्म भूतों के स्तर पर चैतन्य-ऊर्जा प्रजनन नहीं कर सकती थी; प्राणी स्तर पर प्रजनन कर सकती है। पौधों से पौधों का फिर जन्म होता है और पशुओं से पशुओं का। प्राणी जगत में इस सन्तानोत्पत्ति की क्षमता के कारण जीवन प्रवाह चलता रहता है। विरले ही बाँझ होते हैं।

इसके बाद हम क्षय और मृत्यु पर विचार करेंगे। जीवित प्राणी में घर्षण[4] और क्षरण[5] के कारण कोशिकाएँ प्रत्येक क्षण मरती रहती हैं। स्वयं जीवन में प्राणवान सत्ता का घर्षण और क्षरण निहित है। अत: कोशिकाओं की मृत्यु अवश्यम्भावी है। जहाँ जीवन है वहाँ मृत्यु है - कैसा विरोधाभास है! जीवन और मृत्यु एक दूसरे पर आश्रित हैं। साधारणतया[6] जब प्राणी इतना अधिक जर्जर हो जाता है या इतना दोषपूर्ण हो जाता है कि प्राण उसकी मरम्मत नहीं कर सकता, तो प्राण सदा के लिये उसको त्याग देता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। प्राण के जाते ही श्वास क्रिया बन्द हो जाती है और उसके साथ ही समस्त जैवी प्रक्रियायें भी।

---

1. सुरक्षित, अखण्डित
2. अति उत्तम
3. अपने से पहले वाले
4. घिसाव
5. तोड़-फोड़ से होने वाला क्षय
6. प्राणवान देहें बड़ी संख्या में अपने को उत्पन्न कर लेती हैं यदि केवल जन्म और वृद्धि होती, क्षय और मृत्यु नहीं, तो जीवन असम्भव हो जाता, प्राणियों के रहने के लिये स्थान नहीं रहता। क्षय उपचय को बराबर कर देती है और मृत्यु जन्म को। बच्चों की मृत्यु, प्राणघातक दुर्घटनायें इत्यादि अपवाद् (exceptions) हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। आगे अध्याय 16 देखें। - लेखक

प्राण एक महान विघटनकारी तत्व है। यह उतने ही वेग से नष्ट करता है जितनी सशक्तता से सृजन करता है। श्वास क्रिया के बन्द हो जाने पर प्राणी की ठठरी सड़ती है। वह असंख्य कीड़ों से भर जाती है जो इसके प्रत्येक तन्तु को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। बड़ी सावधानी से निर्मित और सुरक्षित यह विशाल ढाँचा ध्वस्त हो जाता है। यह प्राण ही है जिससे इन कीड़ों की उत्पत्ति होती है जो क्षय और मृत्यु के कारण हैं।

प्राण को भूख लगती है जबकि सूक्ष्म भूतों को नहीं। प्राण, वायु जल और भोजन की माँग करता है और उसे ये वस्तुयें खिलानी होती हैं। सूक्ष्म भूतों के रूप में ग्रहण किये हुये द्रव्य को यह जैविक रेशों में परिवर्तित कर देता है और उनसे शरीर का निर्माण एवं नवीकरण कर देता है। ये जैवी देह छोटी फैक्ट्रियों के समान हैं जो सूक्ष्म भौतिक रूप में कच्चा माल लेती हैं और उसे जैवी पदार्थों में बदल देती है।

सूक्ष्म भूतों में साम्यतायें होती हैं और विषमतायें भी। प्राण की रुचियाँ और अभिरुचियाँ होती हैं जो अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और बलवती होती हैं। जैवी देह इनके चारों ओर केन्द्रित होती है और भावी विकास अधिकतर इसी दिशा में अग्रसर होता है।

रुचियों और अरुचियों का होना कुछ सीमा तक संवेदना एवं किंचित् भावना की क्षमता के पूर्व अस्तित्व का संकेत देता है। यदि किसी विशेष बाहरी उत्तेजना के फलस्वरूप जैवी देह में भीतरी संशोधन न हो सकता तो यह प्राणी एक प्रकार की उत्तेजना की अपेक्षा दूसरे प्रकार की उत्तेजना को क्यों अधिक पसन्द करता? अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर बाध्य हैं कि सूक्ष्म भूतों के स्तर पर मोटे तौर पर संवेदन वर्तमान है ही। जैवी स्तर पर तो यह सुस्पष्ट रूप से विद्यमान है।

प्राण उन उत्तेजनाओं को पसन्द करता है जो देही के जीवन की सहायक हैं, और जो सहायक नहीं हैं उनको पसन्द नहीं करता। पहले प्रकार की उत्तेजनाओं से सुख होता है और दूसरे प्रकार से कष्ट। इन रुचियों और अरुचियों के मूल में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति है, सत्ता कायम रखने की दृढ़ इच्छा। मित्र और शत्रु में तुरन्त भेद मालूम हो जाता है। जैवी देह को अनुकूल भोजन प्रिय होता है और शीघ्र ही पचा लिया जाता है जबकि हानिकारक

भोजन स्वीकार नहीं किया जाता। यदि यह देह में बलात् ठूँसा जाय तो यथासम्भव बाहर फेंक दिया जाता है। जैवी देह के स्तर पर यही मूलभूत सुख और दु:ख है। एकमात्र उद्देश्य जो जैवी देह और प्राण पर आधिपत्य[1] बनाये रखता है वह है सत्ता का बने रहना, बढ़ना और जीते रहना। प्राण का लक्ष्य है भौतिक देह को सदा बनाये रखना, और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह अपनी सारी शक्तियों, बुद्धि और संवेदनाओं का प्रयोग करता है। यह अस्तित्व के लिये जीना है। यह एक और विरोधाभास[2] है। ''जीवित रहने की दृढ़ इच्छा'' प्राण का बोध प्राप्त करने की कुञ्जी है। ''अस्तित्व के लिये जीना'' यही प्राणी जीवन का उद्देश्य है।

जो सुखदायक है वह लाभदायक है अर्थात् जीवनदायक है। केवल जीवनदायक ही सुखदायक है। और जीवन ही प्राण के लिये अनिवार्य शर्त है। अत: प्राण में सुखप्रद वस्तुओं के लिये उत्साह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्पष्ट है कि इसकी जड़ है मूलभूत 'अस्तित्व के संकल्प' में।

पुनरावृत्ति[3] से संवेदना[4] कुण्ठित[5] हो जाती है। परिवर्तन इसे पैनी रखता है। अधिकाधिक सुख की प्राप्ति के लिये लगातार परिवर्तन होना आवश्यक है। इसी से प्राणिक क्षेत्र में सुख की सीमा निर्धारित[6] होती है। इसलिये प्राण उत्तेजनाओं में निरन्तर परिवर्तन की खोज में रहता है जिससे उसकी सुख की लालसा तृप्त हो सके।

जितनी गहरी उत्तेजना होती है उतनी ही अधिक संवेदना। अत: अधिक सुख की प्राप्ति के लिए अधिक गहरी उत्तेजना आवश्यक है। उसके सुख की खोज की यह दूसरी दिशा है।

जो जीवनदाता है वह सुखकर है। कोई अनुभव जितना ही अधिक जीवनदायक उतना ही अधिक सुखकर होना चाहिए। प्राण सदा अधिकाधिक स्फूर्तिदायक अनुभवों को खोजता है। जितना अधिक जीवन, उतनी ही

---

1. कब्ज़ा, नियन्त्रण 2. परस्पर विरोधी लगना 3. दुहराना
4. विकास के साथ ही यह अनेक रूपों में प्रकट होती है और जिस आधारभूत संकल्प से इसकी उत्पत्ति हुई थी उससे भी आगे बढ़ जाती है। यह अपनी मौज के लिये सुख की खोज का रूप धारण कर लेती है फिर चाहे जीवन के लिये यह हानिकारक ही क्यों न हो। - लेखक
5. कम पैनी 6. निश्चित

अधिक प्रसन्नता, प्राण के सुख की यह मूलभूत भावना है। ऐसा इसके स्वभाव के कारण ही होता है।

इस प्रकार सुख की लालसा तीन दिशायें ग्रहण करती है - परिवर्तन की खोज, गहनता की खोज और स्फूर्तिदायक उत्तेजना की खोज। तीनों अवस्थाओं (मूल तत्व, वनस्पति, प्राणी) से गुजरने वाले इसके विकास के मार्ग का हम निरीक्षण करेंगे।

अध्याय 8

प्राण का विकास

हमने देखा है कि विकासमान चैतन्य-ऊर्जा से सूक्ष्मभूतीय अस्तित्व के नियम का जन्म होता है। उसके फलस्वरूप परमाणु का निर्माण होता है। उसके पश्चात् अधिक जटिल परमाणुओं की उत्पत्ति होती है और फिर जटिल अणुओं का प्रादुर्भाव[1] होता है। विकास की प्रगति के साथ-साथ संरचना की जटिलता बढ़ती जाती है। उच्च से उच्चतर स्तर के सूक्ष्म भूत विकसित होते हैं और सूक्ष्म भूतों के जीवन के नियम का विकास अपने अनोखे मार्ग पर आगे बढ़ता है।

जब पर्याप्त मात्रा में जटिल सूक्ष्म भूतों के निर्माण हो चुकने पर जीवन के प्रादुर्भाव के लिये क्षेत्र तैयार हो जाता है तब चैतन्य-ऊर्जा एक उच्चस्तरीय तत्व, प्राण को उत्पन्न करती है। इस प्राण में सूक्ष्म भूतों को प्राणी देहों के रूप में संगठित करने की क्षमता होती है।

यह बताने के लिये कि प्राण का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव कब हुआ, कोई निश्चित विभाजन रेखा खींचना कठिन है। एककोशीय प्राणी अमीबा में हमें उसकी पहली झलक मिलती है। यह अणु (मोलेक्यूल) से बहुत अधिक मिलता जुलता है और व्यवहार में उससे बहुत कम भिन्न है। विशिष्टता विहीन जीवन का यह एक उथला पुथला लोथड़ा है। इसकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह प्रजनन कर सकता है। अणु दूसरे अणुओं को जन्म नहीं दे सकते लेकिन एक-कोशिका अन्य कोशिकाओं को उत्पन्न कर सकती है। प्राण के एक नये नियम के आगमन का यह सूचक है। सूक्ष्म भूतों के जीवन की भाँति इस प्राण तत्व के विकास का भी अपना मार्ग है जो जीवाणु (बैक्टीरिया) जीवन से लेकर वनस्पति और पशुओं में से होता हुआ मानव जाति तक फैला हुआ है। इसके विकास की रोचक कहानी की विशेषतायें हैं सदा बढ़ती हुई जटिलता, अविराम[2] अनुकूलता और सतत्[3] विशिष्टता। इस कहानी को दुहराने का हम यहाँ प्रयत्न नहीं करेंगे। हम केवल सम्यक[4] परिप्रेक्ष्य[5] प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।

---

1. उत्पत्ति, प्रकटन
2. बिना रुके होने वाली
3. लगातार
4. ठीक, सन्तुलित
5. परिदृश्य, देखने का कोण

प्राण की मूलभूत विशिष्टता है इसकी जिजीविषा (जीवित रहने की दृढ़ इच्छा)। अस्तित्व को किसी भी प्रकार बनाये रखने मात्र से यह सन्तुष्ट नहीं होता। विकसित होने के साथ-साथ यह अधिक से अधिक पूर्ण अस्तित्व की खोज करता है। पूर्णतर अस्तित्व का अर्थ है अधिक प्रभावशाली अस्तित्व अर्थात् प्राणी अधिक मात्रा में ऊर्जा को प्रकट कर सके और अपेक्षाकृत विभिन्न प्रकार से भी। परिवेश के साथ अधिक महत्त्वपूर्ण, अधिक व्यापक और अधिक विविध क्रिया-प्रतिक्रिया की क्षमता इसमें हो सके। पूर्णतर जीवन का यह भी अर्थ है कि "प्राणी भीतरी और बाहरी विरोधी शक्तियों" का मुकाबला अधिक प्रभावी ढंग से करने में समर्थ हो। विकास की प्रगति के साथ हमें इस उद्देश्य की पूर्ति होती दिखाई देती है।

पूर्णतर जीवन की माँग है कि अवयवी देह की संरचना में वृद्धि हो, और इसके लिये देही की क्रियाओं में अधिकाधिक जटिलता की आवश्यकता होती है। अमीबा[1] (amoeba) में भिन्नता पैदा होती है जिससे उच्चतर देह उत्पन्न होते हैं। वनस्पति के स्तर पर देह विशाल आकार धारण कर लेता है। इससे डालें, पत्तियाँ और तना निकलते हैं। इसकी जड़ें फैलती हैं। इसमें छाल निकल आती है। रस के प्रवाह की व्यवस्था हो जाती है और श्वास प्रश्वास की भी। पशु स्तर पर जीवधारी के आधारभूत अंगों में और अधिक विभिन्नता आ जाती है। उसके अन्दर हृदय, पाचन संस्थान और मल त्याग की प्रणाली बन जाती है। तन्त्री[2] संस्थान (nervous system) भी विकसित हो जाता है जिसका जाल सारे शरीर में फैल जाता है। हाथ और पैर निकल आते हैं। मुँह और जीभ भी हो जाते हैं। शरीर आवाजें पैदा कर सकता है और भोजन कर सकता है। मानव शरीर में क्रियाओं का विशिष्टीकरण चरम सीमा तक पहुँच जाता है।

देह का विकास और दैहिक प्रक्रियाओं का विशिष्टीकरण प्राणी जीवन का एक मौलिक पक्ष है, लेकिन एकमात्र पक्ष नहीं। देह एक परिवेश में जीवित रहता है। विकास क्रम में शरीर की वृद्धि के साथ परिवेश से इसका सम्बन्ध बढ़ता है। इसे अपना पेट भरने के लिये भोजन की तलाश करनी पड़ती है। इसे जोड़े की आवश्यकता होती है और फिर सन्तान के भरणपोषण की, जिसके लिये इसे घोंसला बनाना पड़ता है। गर्मी, वायु और

---

1. जीवाणु, एककोशीय
2. नाड़ी, स्नायु

शीत इत्यादि सूक्ष्म भौतिक शक्तियों से इसे अपनी रक्षा करनी पड़ती है। अन्य प्रजातियों के साथ अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये संघर्ष उपस्थित होता है। इस प्रकार देह और परिवेश के बीच क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के अधिक व्यापक मार्ग खुल जाते हैं। देह के इस व्यवहार को जो परिवेश के प्रति संचालित होता है हम परिवेशात्मक व्यवहार या परिवेशात्मक क्रिया कहेंगे।

परिवेशात्मक क्रिया का लक्ष्य निश्चित है। यह जीते रहने की इच्छा की सम्पूर्ति है। विकास की प्रगति के साथ देह में भी परिवर्तन होता है। परिवेश भी परिवर्तित होता है। अपनी आन्तरिक जटिलता और उसके प्रति संवेदनशीलता की वृद्धि के कारण यह देह के लिये अधिकाधिक जटिल होता जाता है। देह की माँगें बढ़ती हैं। परिवेश का प्रतिरोध भी बढ़ता है। प्राण एक विलक्षण[1] अनुकूलन क्षमता का प्रदर्शन करता है। पौधे में स्थान परिवर्तन या गतिशीलता की सम्भावना नहीं रहती तो वह अपनी जड़ों को पृथ्वी के अन्दर दूर तक फैलाता है जिससे नमी और पोषक तत्व ग्रहण कर सके। कठिन शीत में अपनी रक्षा के लिये मोटी पत्तियाँ उगाता है। वायु में उड़ने वाले परागकेसर[2] को पकड़ने के लिये यह अपने फूलों को खूब फैलाता है जिससे बीजों का निर्माण हो सके और इसका वंश बढ़ सके। अपनी वृद्धि को यह इस प्रकार अनूकूलित करता है कि अधिक से अधिक प्रकाश ग्रहण कर सके।

यह सभी प्रयास मौलिक इच्छा की पूर्ति की दिशा में होते हैं। यह इच्छा पशुओं में और भी अधिक विलक्षण व्यवहार के रूप में व्यक्त होती है। मधुमक्खियाँ शीतकाल के लिये अपना भोजन इकट्ठा करती हैं। अपनी बस्ती में उनकी अति जटिल व्यवस्था और कठोर अनुशासन लागू होते हैं। पक्षियों को वर्षा के आगमन का भान पहले से हो जाता है जिससे वे समय रहते बसेरा ढूँढ सकें। पाचन बिगड़ने पर कुत्ते और बिल्ली अपने आप उपवास कर लेते हैं। अपनी सन्तान के लिये पक्षी घोंसला बनाते हैं और पशु माँद तलाश कर लेते हैं।

मादा पशु अपने बच्चों के लिये दूध देती है। परिवेश की माँगों के साथ आश्चर्यजनक अनुकूलता स्थापित करने के उदाहरण पशु जगत में भरे पड़े हैं।

---

1. चतुर, दक्षतापूर्ण
2. पुष्परज (pollen)

जीवन की इच्छा के दबाव में परिवेश की आवश्यकता की पूर्ति के लिये होने वाले पशुओं के क्रिया कलाप को आधुनिक मनोवैज्ञानिक सहज प्रवृत्ति कहते हैं। सहज प्रवृत्तियों के अनेक वर्गीकरण किये गये हैं परन्तु हमारे दृष्टिकोण से इस नामकरण और वर्गीकरण का सार्थक प्रयोजन नहीं है। धुर कीटाणु स्तर से विकसित होने वाले प्राण को उसके विभिन्न रूपों में समझने के लिये हमें उद्यत रहना चाहिये।

परिवेश को समझने के अधिक कुशल साधनों के अभाव में इस प्रकार की परिवेशात्मक क्रिया सम्भव नहीं। परिवेश पर अपना प्रभाव डालने के लिये सूक्ष्म भूतों के स्तर पर उपलब्ध साधनों से अधिक श्रेष्ठ साधनों की भी इसको आवश्यकता पड़ती है। अत: इन्द्रियों के विकास की आवश्यकता होती है। उनके बिना पूर्णतर जीवन असम्भव है। ऐन्द्रिक क्षमताओं को विकसित करते हुये प्राण चैतन्य-ऊर्जा के संज्ञान (चित्) पक्ष को प्रकाश में लाता है।

सूक्ष्म भूतों में मोटे तौर पर संज्ञान होता है। प्रतिक्रिया की उपस्थिति उसकी विद्यमानता का प्रमाण है और वह इसके स्तर को भी सूचित करती है। यह संज्ञान विकसित होकर इन्द्रियों के रूप में श्रेष्ठ संज्ञान बन जाता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है तथा पूरे वनस्पति और पशु जगत में क्रमश: इसके चिन्ह मिलते हैं। प्रकाश, उष्णता और विद्युत की तरंगों से प्रभावित जीवाणु (अमीबा) के जीवन के मन्द स्पन्दनों में इसका आरम्भ होता है और दृष्टि, स्पर्श एवं श्रवण की पूर्ण विकसित इन्द्रियों के उदय में इसका अन्तिम रूप दिखता है। इसके साथ ही उपयुक्त एन्द्रिक अवयवों[1] का विकास भी हो जाता है। इन्द्रियाँ केवल अवयवों के द्वारा ही, जो उनके आवश्यक यन्त्रों का काम देते हैं, प्रभावी हो सकती हैं। इससे देह और परिवेश के बीच अधिक साम्य स्थापित होता है जिसके फलस्वरूप दोनों के बीच अभूतपूर्व[2] गहन और विस्तृत क्रिया-प्रतिक्रिया होने लगती है।

इन्द्रियों के द्वारा प्राप्य संज्ञान की इस उच्चतर मात्रा के अनुरूप प्रतिक्रिया करने के लिये देह में साधनों का होना आवश्यक है। इस माँग की सन्तुष्टि के लिये हाथ, पैर और वाणी का विकास होता है। इनके द्वारा देह परिवेश से सम्पर्क स्थापित करता है, उससे काम ले सकता है, उसे परे

---

1. अंगों (इन्द्रियों के साधन)
2. जो पहले (सम्भव) नहीं था

हकेल सकता है या उससे दूर भाग सकता है। वाणी के द्वारा दूर से भी यह परिवेश से सम्पर्क बना लेता है। संकट के समय यह सहायता ढूँढ सकता है और अन्य देहों को सहारा दे सकता है।

अब हमें प्रजातियों के विषय में विचार करना है। प्राण का नियम प्रजातियों में से होकर विकास करता है। प्रजातियाँ, न कि वैयक्तिक देह, प्राणिक विकास की एकता का निर्माण करती हैं। वैयक्तिक देह उत्पन्न होता है और एक सीमित अवधि तक जीवित रहकर लुप्त हो जाता है, जबकि प्रजाति का जीवन चलता रहता है और विकसित होता रहता है यद्यपि निस्सन्देह ऐसा वैयक्तिक देहों के माध्यम से ही होता है। प्रजाति का नियन्त्रण उस प्राणिक इकाई से होता है जिसे समूह मानस (group soul) कहते हैं। प्राण के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति का यह एक रूप है, एक एकात्मक सत्ता।

प्रजाति का अस्तित्व समूह मानस के कारण होता है जो इसका जीवन है। व्यक्ति समूह मानस में एक विशिष्ट अंश है जैसे शरीर में एक अंग। विकास क्रम के बहुत प्रारम्भिक स्तरों में एक प्राणी दूसरे प्राणी से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ यह है कि समूह मानस के अन्दर बहुत थोड़ी विभिन्नता होती है। विकास के साथ-साथ यह बढ़ती जाती है। देह एक दूसरे से विलग होते जाते हैं।

विकासीय प्रक्रियाओं की यथार्थ समीक्षा प्राणिक इकाई से ही हो सकती है। अस्तित्व के लिये संघर्ष, अनुकूलन की शक्ति, सम्पूर्ण प्रजाति पर क्रमचय[1] (Mutation) का छा जाना, चाहे प्रजाति के सदस्य एक दूसरे से बहुत दूरी पर हों, यह सब स्पष्ट हो जाता है यदि हम समूह-मानस को[2] समझ लें।

समूह-मानस जन्म लेते और मरते हैं। वे दूसरे समूह-मानसों में विभक्त हो जाते हैं। प्रजातियाँ भी जो भौतिक स्तर पर समूह-मानसों की अभिव्यक्तियाँ हैं जन्मती और मरती हैं। उनसे अन्य प्रजातियों का विकास होता है। प्रजातियों

---

1. उत्परिवर्तन, रूप परिवर्तन
2. जीव विज्ञान के प्रचुर प्रमाण हमें इस नतीजे पर पहुँचने को बाध्य करते हैं कि एक अभौतिक कड़ी प्रजाति के सदस्यों के बीच विद्यमान रहती है। - लेखक

का विकास समूह-मानस के विकास की प्रतिच्छाया मात्र है, और सहज प्रवृत्तियाँ समूह-मानस के स्वभाव को व्यक्त करती हैं।

समूह-मानस प्रजातियों की मातृ-चेतना है जो अपने गर्भ में मानो प्रजाति की सभी देहों को धारण करती है। वैयक्तिक देहों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का यह लेखा रखती है, उनसे अनुभव ग्रहण करती है और विकास की आवश्यकताओं और परिवेश के अनुरूप स्वयं को पुनः पुनः अनुकूलित करती है। यह प्रजातियों को बनाने वाले देहों के समूह की आत्मा है। जैसे-जैसे, कोशिकायें एक देह में और अणु एक कोशिका में, अपने पृथक व्यक्तित्व को लय कर देते हैं इसी प्रकार प्राणी अपने अस्तित्व की इकाईयाँ समूह-मानस में खो देते हैं। वास्तव में समूह-मानस से अलग उनकी कोई वैयक्तिक पहचान नहीं रह जाती।

प्राणिक संरचना के द्वारा समूह-मानस देह वैयक्तिक इकाई से जुड़ा रहता है। प्रत्येक देह के साथ इसका विशिष्ट सम्बन्ध रहता है और देह के जीवन के लिये यह उत्तरदायी है। इसको प्राणमय या वायवी प्रतिच्छाया[1] कहते हैं। यह जीवनी शक्ति का विन्यास[2] (structure) है, देह का जीवन है और देह को क्रियाशील रखता है। यही सभी क्रियाओं को अर्थात् प्राणी की जीवन प्रक्रियाओं को गतिमान[3] करता है।

इस वायवी प्रतिच्छाया के द्वारा प्राणिक ऊर्जा सूक्ष्म भूतों के जीवन को व्यवस्थित करती है। इसके कारण ही कोशिकायें अपना विशिष्ट दायित्व निभाती हैं। वे इस इकाई[4] के जीवन में भागीदार बनती हैं। यही वस्तु है जो मृत्यु के समय प्रस्थान कर जाती है। हाल के वैज्ञानिक प्रयोगों ने सिद्ध कर दिया है कि वायवी प्रतिच्छाया तोली[5] जा सकती है।

प्राण की यह संरचना विकास की प्रक्रिया के साथ विकसित होती है। सभ्य मानव में इसका चरम विकास पाया जाता है और जीवाणु (बैक्टीरिया) में न्यूनतम।

---

1. इसे प्रतिच्छाया कहते हैं क्योंकि यह भौतिक शरीर का प्रतिरूप है। - लेखक
2. संरचना
3. चालू करना
4. यह इस अर्थ में इकाई है कि इसका वैयक्तिक अस्तित्व है। - लेखक
5. देखें 'Where Science and Theosophy Meet.' Theosophical Publishing House, London. - लेखक

जैसा सम्बन्ध समूह-मानस और प्रजातियों में है वही वायवी प्रतिच्छाया और प्राणी देह में है। प्राणी देह के वायवी प्रतिच्छाया के माध्यम से प्रभावित होने वाले समूह-मानस के विकास को हम प्राणी देह के विकास में पाते हैं। यह समन्वित प्रक्रिया है। हम इसकी अभिव्यक्ति तीन दिशाओं में देखते हैं - संरचना की वृद्धि और अंङ्गों के क्रिया कलापों का विशिष्टीकरण (specialization), इन्द्रियों की क्षमताओं का प्रकटीकरण और परिवेशात्मक क्रिया में कुशलता की उपलब्धि। वस्तुत: ये तीनों एक ही विकासीय प्रक्रिया के तीन पक्ष हैं। वे स्वभावत: आपस में इतना निर्भर करते हैं कि एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते।

आगे चलकर जब प्राण मानव-स्तर पर पहुँचता है तो इसका विकास एक दूसरी दिशा में भी होता है। मानव शरीर में सुख के लिये तीव्र चाह का विकास होता है। ऐसा केवल मानवी स्तर पर ही सम्भव है क्योंकि अवयवी देह को उसके पूर्ण विकास तक पहुँचाकर और परिवेश पर उसे विजय दिलाकर प्राण अपने निर्दिष्ट कर्म से मुक्त हो जाता है। वनस्पति और पशु स्तर की मुख्य समस्या है जीते रहना। पौधा जीने के लिये खाता है और पशु केवल प्रजनन[1] के लिये सहवास[2] करता है। परन्तु सभ्य हुआ मानव[3] खाने के लिए जीवित रहता है और भोग के लिये मैथुन करता है। अधिक पूर्ण जीवन की खोज में, जो जीवित रहने की मौलिक इच्छा का विस्तार मात्र है, प्राण इसकी ठीक विपरीत दिशा में काम करना प्रारम्भ कर देता है। प्राण की प्रवृत्ति अपने मार्ग से च्युत हो जाती है और स्वयं के लिये विनाशकारी बन जाती है।

प्राण चैतन्य-ऊर्जा का आत्म पोषक[4] रूप है। यह जीवनी शक्ति का एक नियम है जो अपने विकास का मार्ग स्वयं बनाता है। यह तर्क नहीं कर सकता परन्तु बड़ी जटिल सोद्देश्य क्रिया[5] की क्षमता इसमें है। यह अपने

---

1. बच्चे को जन्म देना
2. मैथुन के लिए साथ रहना
3. इस विषय में नीग्रो बहुत कुछ पशु के समान हैं
4. पालन करने वाला, पुष्ट करने वाला
5. भौतिक विज्ञान ने एक यान्त्रिक मानव का निर्माण किया है जो अनेक जटिल कार्य कर सकता है। विद्युत-चुम्बकीय शक्ति, जो सूक्ष्म भौतिक स्तर की शक्ति है, के बुद्धिमता पूर्वक प्रयोग का यह परिणाम है। प्राण जैवी स्तर की शक्ति है। यदि इसकी कार्यक्षमता उससे कहीं और अधिक हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नए मार्ग खोज सकता है और विलक्षण रीति से अपने को परिवेश की माँगों के अनुकूल बना लेता है।

देह का विकास, क्रिया-कलापों का विशिष्टीकरण, इन्द्रियों और इन्द्रिय गोलकों का प्रकट होना, पशुओं का व्यवहार, उनकी व्यवस्था, अनुशासन, दूरदर्शिता और कौशल इत्यादि का बोध, ये सभी विलक्षण क्षमता के आश्चर्यजनक उदाहरण हैं जिनके सामने मानव की बुद्धि चकित हो जाती है। वैज्ञानिक खोज की इस एक शताब्दी ने विकास के विषय में हमारी थोड़ी बहुत समझ को विस्तृत किया है। उस महान और शक्तिशाली प्राणिक ऊर्जा के सामने, जो नित्य जागरूक, नित्य क्रियाशील और नित्य अनुकूलनशील है और जिसे प्रकृति या नेचर का नाम दिया गया है, मानव बौने की भाँति तुच्छ प्रतीत करता है। मानव खुशी-खुशी इस नियम में ईश्वर भाव को थोप देता है और घुटने टेक कर उसकी पूजा करता है। विकासवादी अध्यात्म के दृष्टिकोण से यह सर्वातीत पुरुषोत्तम की चैतन्य-ऊर्जा का एक नियम मात्र है और विकास के क्रम में इसका स्थान दूसरा है।

अध्याय 9

इच्छा तत्व

हमने देखा है कि मानव स्तर पर प्राण में सुख की चाह का विकास होता है जबकि उसको स्थायी जैवी अस्तित्व का लक्ष्य प्राप्त हो चुका है। मानवीय विकास में वह चाह एक स्थायी प्रवृत्ति बन जाती है। हम इसे इच्छा तत्व कहेंगे। यह नाम इसके स्वभाव को अच्छी तरह प्रकट करता है। मानव जाति के विकास के माध्यम से इसकी वृद्धि होती है और इसकी गति तेज करने का भार इसी पर है।

पशुओं में इच्छाएँ नहीं होती हैं। उनकी क्रियाएँ उनकी जैवी आवश्यकताओं तक सीमित होती हैं। मनुष्यों में इच्छा [1] होती है। अपनी जैवी आवश्यकताओं से कहीं अधिक के लिए वह इच्छा करता है। उसे अपनी इच्छाओं को समुचित रूप से सन्तुष्ट करना पड़ता है और पशुओं की विधि से नहीं। उसकी इच्छायें और उसकी आवश्यकतायें बढ़ती हैं। उसका जीवन स्तर ऊँचा होता है। उसे परिष्कार [2] और आराम की इच्छा होती है, नाम और यश की इच्छा होती है। वह लौकिक [3] और पारलौकिक [4], वर्तमान और भविष्य की सम्पन्नता की कामना करता है। ज्ञान, शक्ति और न जाने कितनी वस्तुओं के लिये उसे चाह होती है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इन वस्तुओं

---

1. पौधों में आवश्यकतायें होती हैं, पशुओं में प्रवृत्तियाँ और मनुष्यों में इच्छायें। इच्छा में सचेतन 'स्व' का भाव निहित है जो पौधों व पशुओं में नहीं हो सकता। इस प्रकार इच्छा मानुषी स्तर पर ही सम्भव है।
   विकास में पूर्णतर अभिव्यक्ति की प्रेरणा मौलिक है अन्यथा विकास असम्भव हो जायेगा। प्राण में यह अस्तित्व के लिए दृढ़ संकल्प का रूप लेती है जो बाद में अधिक पूर्ण जीवन के संकल्प में बदल जाती है। इसमें और सुख की तीव्र चाह में अन्तर है। मानव से पूर्व के स्तर पर देह की स्थिरता बनाए रखने के लिए पूर्णतर जीवन की आवश्यकता होती है। इसे जीवन संघर्ष की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है और यह परीक्षा तभी पास की जा सकती है जब यह पूर्णता के स्तर विशेष तक उन्नति करने में सफल हो सके। सुख के साधनों की चाह का नियमन [5] ऐसी आवश्यकता से होता। - लेखक
2. शुद्ध करना, सुन्दर करना
3. इस लोक का
4. इस लोक के परे का
5. नियन्त्रण, नियम में बाँधना

को अधिकाधिक मात्रा में पाने की उसकी चाह होती है। इच्छा के पंखों की सीमा नहीं है और अनन्त क्षेत्रों में उसकी सीमारहित उड़ान होती है। इच्छा-तत्व मानवीय क्रियाओं के विस्तार को निरन्तर बढ़ाता जाता है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य को अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। वैज्ञानिक खोज और अनुसन्धान की कथा इस तथ्य की पर्याप्त साक्षी है। इस प्रकार चैतन्य-ऊर्जा के संज्ञान पक्ष के विकास में यह तत्व सहायता करता है।

अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि के लिये मनुष्य को न केवल अधिक जानना ही पड़ता है वरन् अधिक परिश्रम भी करना पड़ता है। यह चैतन्य-ऊर्जा के क्रिया पक्ष (सत्) को विकसित करता है। अपनी जानकारी का उसे उपयोग करना ही पड़ता है। और हम देखते हैं कि पिछले कुछ दशकों में प्रति व्यक्ति उत्पादन कितना बढ़ गया है। पिछली शताब्दी के अपने पूर्वजों की अपेक्षा आज का मनुष्य कहीं अधिक सक्रिय है।

अपने परिवेश (environment) से मनुष्य अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि की माँग करता है। इसके लिये परिवेश के ऊपर उसे अधिक प्रभावी रूप से क्रिया करनी होती है। मानवीय परिवेश के सम्बन्ध में यह कथन जितना सत्य है उतना शेष[1] परिवेश के प्रति भी। इस प्रकार वह अन्य मनुष्यों के अधिक घनिष्ठ सम्पर्क में आता है। क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की एक जटिल और अनन्त श्रृङ्खला का आरम्भ होता है जिनसे भावनाओं का विकास होता है। आशा, क्रोध, घृणा, प्रेम, सहानुभूति इत्यादि क्रियाशील होते हैं। सुख और दु:ख के भाव गहरे होते हैं। विकास की प्रगति के साथ मनुष्य अधिक संवेदनशील हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य-ऊर्जा के भावना पक्ष यानी आनन्द का विकास होता है।

अत: हम देखते हैं कि इच्छा तत्व मनुष्य के विकास के पीछे एक प्रेरक शक्ति है। यह पशुओं के समान प्रगाढ़[2] निद्रा में मग्न मानवीय अस्तित्व को जगाता है और उसे बीसवीं सदी के सभ्य, सक्रिय और संवेदनशील मानव समाज में बदल देता है।

इच्छा तत्व विकास की गति को तीव्र करता है। सुखों की और सुख भोग की क्षमता की वृद्धि के साथ ही यह दु:खों को और दु:खों के प्रति

---

1. बाकी
2. गहरी

सहनशीलता को बढ़ाता है। यह उसकी समस्याओं की संख्या को कई गुणा कर देता है। उसके लिये जीवन एक साथ वरदान और अभिशाप बन जाता है। एक इच्छा से दूसरी इच्छा पर उछाला जाता मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक पाशविक अवस्था में लौट जाना चाहता है जहाँ इच्छा नहीं है। इच्छाओं के फलस्वरूप उसने अमर वाटिका के निषिद्ध[1] फल का स्वाद लिया है और अपनी निष्पापता[2] को खो दिया है। वह आत्म-चेतन (self-conscious) हो गया है और उसके कन्धों पर एक विशाल दायित्व आ पड़ा है। वह मनुष्य बन गया है, अपने भाग्य का निर्माता। वह अपना भविष्य बना या बिगाड़ सकता है।

सदैव बढ़ते हुये स्थिर और बलिष्ठ, अज्ञात परन्तु आकर्षक दानव की भाँति इच्छा तत्व का विस्तार होता है और वह मनुष्य के सम्पूर्ण क्षितिज[3] को ढक लेता है। प्राणिक अस्तित्व के ऊपर यह छा जाता है और उसे अस्वाभाविक बना देता है, शुभ और अशुभ दोनों के द्वारा यह मन को चंचल करता है और मानव के विवेक को कुण्ठित कर देता है। यह मानस के आगमन को सूचित करता है जो विकास क्रम में प्राण से उच्चतर का तत्व है। हम इसकी कुछ और विवेचना करेंगे।

प्राण में सुख की चाह के रूप में इच्छा तत्व जगता है। मनुष्य सुख की खोज प्रारम्भ करता है जिसके पाने का सरलतम मार्ग इन्द्रियों और जैवी क्रियाओं के माध्यम से है। वह मज़े के लिये खाने लगता है और देह को हानि पहुँचाने वाली रुचियाँ बना लेता है। वह मज़े के लिये मैथुन करता है और अति कर देता है। कामुकता प्रधान हो जाती है। वह जीवन-दायक और जीवन-नाशक खाद्य पदार्थों में भेद करने की योग्यता खो देता है जो पशुओं में पाई जाती है। उसका जीवन खाने, पीने और मैथुन के चारों ओर केन्द्रित हो जाता है। वह "खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ" के लक्ष्य की ओर बह जाता है। शरीर पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है और रोगों के रूप में मनुष्य इसका मूल्य चुकाता है।

पशुओं की तुलना में मनुष्य में श्रेष्ठतर क्षमतायें होती हैं। उसकी जानकारी अधिक होती है। वह अधिक जटिल क्रियायें करने में सक्षम होता

---

1. वर्जित, मना किया हुआ
2. पाप रहित होने की अवस्था
3. पृथ्वी से आकाश तक का फैलाव

है। सुख और दु:ख के प्रति वह अधिक संवेदनशील हो जाता है। पशुओं की अपेक्षा उसे अधिक तीव्र सुख और गहरे दु:ख की अनुभूति होती है। इन अधिक विकसित क्षमताओं के द्वारा वह सुख की खोज में बेतहाशा भागता है। मनुष्य मनुष्य में संघर्ष होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जीवन के भोगों को अधिकाधिक मात्रा में स्वयं के लिये चाहता है। अत: स्पर्धा [1] होती है और इससे मनुष्य की निम्न प्रकृति को प्रेरणा मिलती है। वह अपने सहप्राणियों से घृणा करने लगता है, उनसे लड़ता है और उन्हें कष्ट देने का प्रयत्न करता है। दुर्भावना [2] और क्रोध विकसित होते हैं। ईर्ष्या [3] का उदय होता है। वह बदला लेने के उपाय खोजता है। उसके अन्तर का पशुत्व पशु को भी पछाड़ देता है।

दूसरी ओर इस तत्व की प्रवृत्ति के कारण वह दूर-दूर तक दौड़ता है। वह आकाश नापता है, सागर के छोरों को मिलाता है और पृथ्वी के गर्भ तक को खोदता है। वह प्रकृति पर विजय पाता है और उसे अपनी इच्छित वस्तुओं को देने के लिये बाध्य करता है। वह यथासम्भव रोग, मृत्यु, देश और काल को जीतना चाहता है। वह सूक्ष्म भौतिक शक्तियों, उष्णता, प्रकाश, जल, विद्युत इत्यादि पर आधिपत्य [4] जमाना चाहता है।

अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने में वह अनिच्छा से दूसरों की इच्छाओं की सन्तुष्टि करता है और उनको सुख पहुँचाता है। उसका सम्बन्ध दूसरों से अधिक घनिष्ठ हो जाता है। नाम और यश की उसकी इच्छा होती है जिसकी प्राप्ति दूसरों को लाभ पहुँचा कर हो सकती है। वह दूसरों पर शासन करना चाहता है जिसके लिये उसे दूसरों के साथ दयापूर्ण व्यवहार करना होता है। उसे प्यार देना होता है और त्याग करना होता है। इस प्रकार इच्छा-तत्व उसकी निम्न प्रकृति के साथ उच्च प्रकृति को भी प्रेरित करता है। वह मनुष्य को दानव या देवता बना सकता है। विकास की प्रगति के साथ ही यह दोनों प्रकृतियाँ बढ़ती हैं।

मनुष्य की निम्न प्रकृति उसे दु:ख की ओर ढकेलती है और उच्च प्रकृति सुख की ओर। इच्छा तत्व जितना अधिक प्रभावशाली होता जाता है मनुष्य की दोनों प्रकृतियाँ भी उतनी ही अधिक सशक्त होती जाती हैं और

---

1. मुकाबला
2. द्वेष
3. जलन, डाह, मत्सर
4. शासन करना

उसके दु:खों और सुखों की तीव्रता बढ़ती जाती है। कैसा विरोधाभास है! इसका कारण यह है कि उसकी संवेदनशीलता समग्रत: में बढ़ जाती है। मनुष्य का वर्तमान रूप इसी तत्व के प्रभाव के फलस्वरूप है। आज मनुष्य कितना अधिक सुखी और कितना अधिक दु:खी है। वह एक साथ कितना नीच और कितना उदात्त है, एक महान पशु और एक देवता! भाग्य का कैसा उपहास[1] है?

मनुष्य में प्रचुर भावनाओं की अनुभूति करने की योग्यता का भी कारण यह इच्छा तत्व है। साहित्य, कविता, नाटक और ललितकलाओं के पीछे हम इसे सक्रिय रूप में पाते हैं। महान क्रियाकलापों जैसे रेडक्रास के पीछे, मिशनरियों के कार्य के पीछे यहाँ तक कि अन्धश्रद्धा और क्षमा के पीछे भी यह मिलता है। यह तर्क और दर्शन का आधार है। देश प्रेम, प्रकृतिवाद, पूँजीवाद, समष्टिवाद एवं समाजवाद और साम्यवाद, सभी का उद्‌भव इसी इच्छा तत्व से होता है। यह सर्वव्यापक है। मानवता का कोई पक्ष इससे अछूता नहीं है। देवता तक इससे नहीं बच सकते। सभी इसके सामने झुकते हैं। केवल प्रभु और प्रभु के भक्त इसके परे रहते हैं।

सभी धर्मों ने बड़ी प्रबलता से इच्छा तत्व की भर्त्सना[2] की है। महात्मा बुद्ध ने इसे ''मार'' कहा है। हिन्दू शास्त्र इसे ''काम'' कहते हैं। ईसाई दर्शन में यह ''शैतान'' है। परन्तु इसकी भर्त्सना से काम नहीं चलेगा। हमें विकास क्रम में इसके स्थान को समझना होगा। हम ऊपर यह प्रयत्न कर चुके हैं। तो हम इसके पार जाने का मार्ग खोज सकते हैं।

सभी विकासमान प्रवृत्तियों के समान इसका नियमन आवश्यकता के सिद्धान्त के द्वारा होता है। विकास में इसका एक आवश्यक कार्य है और इसीलिये यह प्रकट होता है। यह कार्य है जीवन को त्वरित[3] करना, मानस को क्रियाशील करना, विकास की गति को तीव्र करना और संवेदनशीलता, बुद्धि तथा संकल्प को विकसित करना। इस कार्य को सम्पन्न करके वह निष्क्रिय हो जाता है। अत: यह उस अर्थ में तत्व नहीं है जिसमें सूक्ष्म भूत या प्राण है। इसका कोई भविष्य नहीं है। उन दोनों की तरह इसे विकास के किसी पथ पर नहीं बढ़ना। हमने इसे तत्व इसलिये कहा है कि यह एक

---

1. मखौल, मज़ाक
2. प्रबल निन्दा
3. गति बढ़ाना, उत्तेजित करना

प्रवृत्ति है जो विकास के मानवी स्तर में आदि से अन्त तक बनी रहती है और अपना स्वतन्त्र कार्य सम्पादन करती है।

इससे समस्यायें उत्पन्न होती हैं। इसके कारण इन्द्रियों, भावनाओं और विचारों में संयम रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अज्ञान और अशुभ की समस्यायें इससे जन्म लेती हैं। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में इससे गुरू गम्भीर समस्यायें उठती हैं। राजनीतिक झगड़े और युद्ध होते हैं। सभी जगह यह सक्रियता को प्रोत्साहित करती है और अन्त में संकट की स्थिति (crisis) उत्पन्न करती है। इससे बचने का एकमात्र उपाय है मानस में श्रेष्ठतर तत्व को जाग्रत करना। मनुष्य सब ओर से इतना घिर जाता है कि कामना के ज्वर से उत्तेजित सक्रियता से अर्जित[1] सभी वस्तुओं को अन्तर्मन से त्याग देने के लिए विवश हो जाता है। वह मन के आगे अर्थात् मानवी स्तर के आगे, देखने को बाध्य हो जाता है। विलास में पड़े रहने में उसकी कुशल नहीं है।

हम इच्छा के ऋणी हैं कि इससे मानव अतिमानव बन सकता है। हम इसके आभारी हैं क्योंकि ईश्वरत्व की प्राप्ति की अभीप्सा[2] मनुष्य में उत्पन्न होती है और वह उसकी उपलब्धि कर सकता है। इसके अभाव में मनुष्य के विकास में प्रगति के लिये सचेतन प्रयास असम्भव हो जाता।

हमें इच्छा की भर्त्सना करने की आवश्यकता नहीं। यह पशु को मानव बनाती है और उसे ईश्वरत्व की ओर बढ़ाती है। यह प्रबल शक्ति है। यह आध्यात्मिक अभीप्सा[2] की शक्ति बन सकती है। इसको पहचानने और ठीक रास्ते पर ले चलने की आवश्यकता है। यह सर्वातीत दिव्य सत्ता ही है जो "काम" के रूप में प्रकट होती है, जो दिव्य तत्व है।

1. मेहनत से कमाई गई (उत्पन्न की गई)
2. अभिलाषा, आकाँक्षा (प्रभु की ओर उठने की)

अध्याय 10

आध्यात्मिक विकास और समाज

खण्ड 1

मानव विकास के लिये सामाजिक परिवेश अपरिहार्य[1] है। कुटुम्ब[2] में इसके लिये केवल सीमित क्षेत्र मिलता है। यह मानुषी भावनाओं की वृद्धि में सहायक होता है। इस क्षेत्र में प्रेम, घृणा और सहानुभूति क्रियाशील होते हैं। आत्म-त्याग की भावना का भी उदय होता है। अधिकार के बोध को प्रकाश में आने का अवसर मिलता है। कौशल और उसके प्रयोग की वृद्धि के लिये क्षेत्र मिलता है। उत्तरदायित्व का बोध और सुरक्षा की भावना प्रगट हो पाते हैं। ऐसा होता है छोटा सा संसार जिसमें बच्चा प्रवेश पाता है।

आदिम[3] अवस्था में मानव कौटुम्बिक स्तर पर रहता है और प्रत्येक कुटुम्ब यथासम्भव आत्मनिर्भर होता है। परिवेश की और आन्तरिक आवश्यकता एक कुटुम्ब को दूसरे कुटुम्बों से नज़दीकी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य[4] करते हैं। घनिष्ट सम्बन्धों वाले कुटुम्बों को कुछ सुविधायें मिलती हैं और कुछ त्याग और अनुशासन उन पर लागू होते हैं। कुटुम्बों का एक सामाजिक समूह कबीला बन जाता है और कुटुम्ब की अपेक्षा एक अधिक विस्तृत क्षेत्र मानव चेतना के विकास के लिये पैदा हो जाता है। कुटुम्ब की समस्याओं के साथ-साथ व्यक्ति को अब कबीले की समस्याओं का समाधान[5] करना पड़ता है।

इसके उपरान्त कबीले आपस में अधिक घनिष्टता से संगठित हो जाते हैं और उनकी जाति बन जाती है। व्यक्ति स्वयं को इस जाति की इकाई समझने लगता है और जातीय हितों के साथ अपने हितों की एकता स्थापित करता है। उसका "स्व" कुटुम्ब से बढ़कर जाति तक विस्तृत हो जाता है।

नोटः खाद्य, पेय, शरणस्थल, सुरक्षा आदि की आवश्यकतायें परिवेश सम्बन्धी आवश्यकतायें हैं, और दूसरों से प्रेम पाने की, दूसरों द्वारा सम्मान पाने की आवश्यकतायें आन्तरिक आवश्यकतायें हैं। - लेखक

1. जिसके बिना काम न चल सके
2. परिवार
3. असभ्य
4. मजबूर
5. हल

उसका दृष्टिकोण पिछले दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक अवयैक्तिक हो जाता है। अपनी भावनाओं के प्रयोग के लिये अधिक अवैयक्तिक क्षेत्र मिल जाता है। उसे उन लोगों के साथ भी एकता की अनुभूति होती है जिन्हें उसने न कभी देखा न कभी जाना है। उनके सुखों और दु:खों के प्रति सहानुभूति अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार उसकी आकाँक्षायें भी बढ़ती हैं।

कई जातियों के मिलने से राष्ट्र बनता है। बड़ी इकाई के जन्म के लिये छोटी इकाईयों से आंशिक बलिदान की माँग होती है। राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त करने के लिये जातियों को अपनी विशिष्टताओं एवं विशेषाधिकारों का और व्यक्तियों को अपने स्वतन्त्र अहंभाव का कुछ अंश में त्याग करना पड़ता है। व्यक्ति की जातीय चेतना का स्थान यदि पूर्ण रूप से नहीं तो आंशिक रूप से राष्ट्रीय चेतना ले लेती है। उसकी भावनायें विस्तृत होकर समूचे राष्ट्र को अपने में समेट लेती हैं। राष्ट्रीय स्तर पर उसके वीर, मित्र और शत्रु होते हैं। ''स्व'' का राष्ट्र से और उसकी मातृभूमि से तादात्म्य[1] स्थापित हो जाता है।

अभी तक हमने इस सामाजिक विकास के एक पक्ष पर विचार किया है। दूसरा पक्ष भी इतना ही स्पष्ट है। कौटुम्बिक स्तर पर झगड़े कुटुम्ब तक सीमित रहते हैं और घृणा आदि की भावनायें अल्पकालिक[2] होती हैं। सदस्य एक दूसरे से लड़ने झगड़ने का भार नहीं सह सकते अन्यथा जीवन दूभर[3] हो जाता है। कबीले के स्तर पर कौटुम्बिक झगड़े शुरु हो जाते हैं। कुटुम्ब और कुटुम्ब के बीच और एक ही कुटुम्ब के सदस्यों के बीच शत्रुता हो जाती है। वे काफी महत्व की होती हैं और उनका अवसान[4] हत्याओं तथा दूसरी अमानुषिक[5] घटनाओं में होता है। जातीय स्तर पर कबीलों के बीच युद्ध होते हैं जिससे हत्यायें, कुचक्र और बड़ी मात्रा में नरसंहार होता है। राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रों में युद्ध छिड़ते हैं जो वर्षों चलते हैं जिनसे देश उजड़ जाते हैं और कुटुम्ब बरबाद हो जाते हैं। राष्ट्र अन्य राष्ट्रों से गुट बना लेते हैं और अपने साधनों को संगठित करके अन्य राष्ट्रों और संस्कृतियों को नष्ट

---

1. अभिन्नता हो जाती है
2. थौड़े समय की
3. मुश्किल, कठिन
4. प्रतिफलन, परिणाम
5. मनुष्य के अयोग्य (पाश्विक)

कर देते हैं। अपने जीवन काल में हम यह सब काफी देख चुके हैं।

बड़ी-बड़ी सामाजिक इकाईयों के साथ ही मनुष्य की उच्च और निम्न प्रकृतियाँ भी विकसित होती हैं। समाज के बड़े खण्डों के साथ मनुष्य एकता स्थापित करना सीख लेता है। वह उनके लिये त्याग करता है। उसके कौशल और सौन्दर्यबोध बहुत बढ़ जाते हैं। इसके साथ-साथ उसकी निम्न प्रकृति को भी उसी प्रकार प्रेरणा मिलती है। वह नष्ट करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। उसकी निम्न प्रकृति को असीम क्षेत्र मिलता है और वह भूमण्डलीय युद्ध छेड़ता है। सामाजिक इकाईयों की वृद्धि मानुषिक विकास की प्रक्रिया का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है।

पूरा मानव समाज विकास के एक ही स्तर पर नहीं है। राष्ट्रों के विकास के अलग-अलग स्तर होते हैं और विकास सम्बन्धी उनकी आवश्यकतायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। राष्ट्र मानो पृथक-पृथक विद्यालय हैं जो भिन्न-भिन्न विषय पढ़ाते हैं। कुछ राष्ट्र अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक होते हैं और कुछ अधिक भाव-प्रधान। जीवन के प्रति कुछेक का दृष्टिकोण अधिक तटस्थ (वस्तुनिष्ठ) (objective) होता है और कुछेक का आत्मनिष्ठ (subjective)। कुछ की रुझान[1] प्रबल और स्पष्ट रूप से कलात्मक होती है। किसी राष्ट्र में जन्म लेने से व्यक्ति को उसकी राष्ट्रीय विशेषताओं को आत्मसात करने में सहायता मिलती है। मनुष्य का विकास बहुपक्षी होता है अत: अनेक राष्ट्रों

---

1. प्रवृत्ति, झुकाव
2. प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशिष्टताओं के अनुरूप सामाजिक ढाँचा बना लेता है। राष्ट्र में सम्मिलित सदस्यों को अपने विशेष प्रकार के गुणों के विकास में सामाजिक ढाँचे से सुविधायें मिलती हैं। भारतवर्ष में जन्म लेने से व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि की योग्यता प्राप्त करने में तथा अतिमानुषी मूल्यों का महत्व समझने में सहायता मिल सकती है। जर्मनों के बीच जन्म लेना व्यक्ति के अहंभाव को सरल और सबल बनाने में सहायक हो सकता है। फ्रांसीसियों के बीच बीता जीवन व्यक्ति को सौन्दर्यबोध की शिक्षा दे सकता है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक समाज राष्ट्रों की टोली में अपना अलग-अलग स्थान रखता है। इसके अस्तित्व की उपयोगिता इसके उद्देश्य की पूर्ति पर निर्भर करती है। अपने विशेष जीवन को जीकर यह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अधिकाधिक सफल हो सकता है। स्वाभाविक चेतना जितनी ही अधिक प्रभावी होगी उतनी अधिक सफलता इसे मिलेगी। - लेखक

में जन्म लेना व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है।[2] विकास क्रम में राष्ट्र में एक नैसर्गिक[1] चेतना जाग्रत हो जाती है। सभी दृष्टिकोणों से यह समूह-मानस की तरह राष्ट्र के व्यक्तियों की विशिष्ट विचारधाराओं में व्यक्त होती है परन्तु एक प्रभावी स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हुई राष्ट्र के सदस्यों में संशोधन भी करती है और उनके द्वारा स्वयं भी संशोधित होती है। यह राष्ट्र की भावना है जो राष्ट्र के साथ जीती है और राष्ट्र के साथ मरती है।

व्यक्ति की भी विशेषतायें होती हैं। राष्ट्र के अन्य सदस्यों के समान उसके कुछ चारित्रिक गुण होते हैं परन्तु उसमें बहुत कुछ असामान्य भी होता है। जहाँ तक विकास का सम्बन्ध है प्रत्येक व्यक्ति अनुपम है। राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये, जो उसका अंग है, विकास का अवसर दे। अपना विकास करते हुये व्यक्ति राष्ट्रीय चेतना पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं और स्वयं भी उससे प्रभावित होते हैं। व्यक्ति के जन्म से लेकर उसकी मृत्युपर्यन्त प्रभावों की यह पारस्परिक क्रिया चलती रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता तभी वास्तविक हो सकती है जब अहंकार, स्वार्थ और शक्ति एवं सम्पत्ति की लालसा से युक्त मनुष्य की निम्न प्रकृति उदीयमान बौद्धिक चेतना से नियन्त्रित होगी। मनुष्य को निम्न प्रकृति के चंगुल से छुड़ाने के लिये यह पर्याप्त नहीं है कि कठोर आघातों[2] के द्वारा उसकी व्यर्थता के प्रत्यक्ष प्रदर्शन किये जायें।

निम्न प्रकृति मनुष्य के विवेक को ढक लेती है और उसे बुरे मार्ग पर न चाहते हुए भी जबरन खींच ले जाती है। कोरिया (Korea) और दूसरे स्थानों में हमें इसके प्रमाण आज भी मिलते हैं।

जब तक मनुष्य की उच्च प्रकृति सशक्त नहीं हो जाती ऐसी परिस्थिति का बना रहना अवश्यम्भावी[3] है। धक्कों से निम्न प्रकृति की तीव्रता छँट जाती है और उच्चतर चेतना के अवतरण[4] तथा उच्चतर प्रकृति के व्यापक

---

1. प्राकृतिक
2. धक्कों (shocks)
3. अवश्य बनी रहेगी
4. (मानव में) उतर आना, नीचे उतरना

प्रभुत्व की स्थापना का मार्ग निस्सन्देह बन जाता है। परन्तु आज के मानव समाज के लिये यह दिन अभी बहुत दूर है।

खण्ड 2

व्यक्ति और समाज साथ-साथ विकसित होते हैं। विकास की आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक ढाँचा अपने आप बन जाता है। मनुष्य की उच्च और निम्न दोनों प्रकृतियाँ सामाजिक संस्थाओं के बनने में योग देती हैं। विकास की आवश्यकता सामाजिक संस्थाओं के जन्म और मृत्यु की सर्वोपरि नियामक[1] है। कुटुम्ब, धर्म, न्याय, नैतिकता इत्यादि की उत्पत्ति विकास की आवश्यकता है।

मानव आज घोर कष्ट सह रहा है और वह भी अपनी निम्न प्रकृति के कारण। अपनी निम्न प्रकृति के कारण ही वह सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं का शोषण करता है और फलस्वरूप अधिक मात्रा में दु:ख का कारण बनता है। वह सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर अधिकार जमा कर उनका अपने स्वार्थ के लिये उपयोग करता है। वह शक्ति संचय करता है और आक्रान्ता[2] बन जाता है। मानव अपने अहंकार और संचय[3] की भावनाओं के हाथों की कठपुतली बन जाता है। वे उससे अपने सहयोगियों के साथ युद्ध करवाते हैं। उसका उन्नत मस्तिष्क निम्न प्रकृति से गठबन्धन कर लेता है और वह निरपराध बन्धुओं पर अग्नि की वर्षा करता है। क्या जिन संस्थाओं ने उसकी निम्न प्रकृति के लिये क्षेत्र प्रदान किया है उनको मिटाकर हम मानव को बुराई से सफलतापूर्वक बचा सकते हैं? आज बुद्धिमान मानव समाज को इस समस्या का हल निकालना है।

सीमाओं के रहते हुये भी हमें अपना मार्ग ढूँढ निकालना होगा। अपूर्ण सदस्यों से बने सामाजिक ढाँचे में पूर्णता असम्भव है। हमारे द्वारा निर्मित

---

1. नियम में बाँधने वाली, बनाने वाली
2. आक्रमण करने वाला, हमलावर
3. संग्रह, इकट्ठा करना
4. जिस समय प्रस्तुत पुस्तक लिखी गई थी तब रूस में साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत दमनचक्र तेजी पर था और जनता को बड़े-बड़े बन्दी कैम्पों में इकट्ठा करके उन पर पाशविक अत्याचार किये जाते थे। - सम्पादक

प्रत्येक व्यवस्था पर हमारी दुर्बलताओं का प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ेगा। धनात्मक रीति से वह अशुभ और कष्ट के रूप में और ऋणात्मक रीति से रूस (Russia)[4] में होने वाले दमन और नज़रबन्दी शिविरों (concentration camps) के रूप में उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। हमारी प्रत्येक व्यवस्था में उसकी अपनी त्रुटियाँ पाई जाती हैं और हमें उनका मूल्य चुकाना पड़ता है। विकास की आवश्यकता समाजों का भी नियमन उसी प्रकार करती है जैसे वह व्यक्तियों को प्रेरित करती है।

कुटुम्बवाद और कबीलावाद से हम पूँजीवाद और राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते हैं और राष्ट्रवाद एवं समाजवाद से तानाशाही और साम्यवाद की ओर एकाधिकारवाद से समाजवाद और समाजवाद से समष्टिवाद में जाते हैं। एकाधिकारवाद (autocracy) सम्पूर्णत: कहीं नहीं है। प्रत्येक वाद और प्रत्येक तन्त्र की अपनी कमियाँ हैं जो कुछ व्यक्तियों को दूसरों की अपेक्षा अधिक अनुकूल होती हैं। विकास मार्ग में सामाजिक स्तर पर हमें शक्तियों की एक रोचक अन्तर्क्रिया निश्चय ही दिखाई पड़ती है।

समाज व्यक्ति के विकास का क्षेत्र है और वह ऐसा बना रहेगा। व्यक्ति के इस विकास के लिये कुछ मात्रा में स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है। सभी 'वादों' और 'तन्त्रों' से होकर आध्यात्मिक विकास आगे बढ़ता है। प्रभाव विशेष की आवश्यकता प्रतीत करने वाले व्यक्ति विशिष्ट स्थानों को चले जाते हैं। हम अपने विकास के लिये आवश्यक अनुभवों को संचय[1] करते हुये एक वायु मण्डल से दूसरे वायु मण्डल और एक देश से दूसरे देश को चले जाते हैं।

कहना नहीं होगा कि व्यक्तियों की उन्नति से परिष्कृत[2] होकर सामाजिक ढाँचा उनके आन्तरिक ज्ञान और प्रेम को प्रतिबिम्बित कर सकेगा। उनके विकास के उच्चतर स्तर के लिये अधिक विशुद्ध और प्रबुद्ध सामाजिक ढाँचे की आवश्यकता होगी। यदि ऐसा न हुआ तो सामाजिक ढाँचा टूट जायेगा और समाज विच्छिन्न हो जायेगा। यह इसलिये होता है कि आवश्यकता का सिद्धान्त समाज का नियमन करता है। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते कि इससे किसी विशेष ढाँचे का निर्माण होता है। अत: विभिन्न 'वादों' और 'तन्त्रों' में विकास का कोई क्रम विद्यमान नहीं है।

---

1. इकट्ठा, एकत्रित
2. शुद्ध होकर, सुधरकर

जन साधारण में पारमार्थिक चेतना (प्रज्ञान) के उदय के साथ विभिन्न 'वादों' का प्रयोजन नहीं रह जाता। यह वास्तव में साम्यवाद की स्थिति है जबकि संग्रह की प्रवृत्ति का लोप हो जाता है, जब लोग दूसरों के लिये जीते हैं और जब व्यापक प्रेम और सहानुभूति प्रकाश में आते हैं। यह समाजवाद ही है क्योंकि इस प्रकार के मानव समाज में उत्पादन के साधनों का उपयोग किसी वैयक्तिक लाभ के लिये नहीं किया जाता। यह वास्तविक प्रजातन्त्र है क्योंकि सभी बुद्धिमान मनुष्यों की सूझबूझ समुचित होती है और उनमें पारस्परिक मतैक्य[1] होता है। तब इस बात का महत्व नहीं होता कि इसे पूँजीवाद कहा जाय या एकाधिकारवाद।

हमारी सामाजिक समस्याओं का समाधान सामाजिक ढाँचे के परिवर्तन से नहीं हो सकता। विकास की माँग के साथ वे बदलते हैं और बदलते रहेंगे। जैसे ही हम समस्याओं के एक समूह का हल किसी परिवर्तन से करेंगे वैसे ही उतना ही चकरा देने वाला दूसरा समूह उत्पन्न हो जायेगा और यह क्रम चलता रहेगा। मनुष्य की निम्न प्रकृति के कारण समस्यायें उत्पन्न होती हैं जो हमारे विरामकालीन व्यवस्था के बावजूद अपने प्रगट होने का मार्ग ढूँढने में सफल हो जाती हैं। मनुष्य का अहंकार कुटुम्ब से कबीले और कबीले से जातीय क्षेत्र में पहुँच जाता है। मनुष्य निश्चय ही समझता है कि उसने इसे समूल नष्ट कर दिया है। राष्ट्रीय स्तर पर इसके कारण विश्वव्यापी युद्ध होते हैं। शत्रुता, कामुकता और लोभ के साथ भी ऐसा ही होता है। मानव समाज की वर्तमान दशा उसकी निम्न प्रकृति की वृद्धि का इतिहास है। मौलिक रूप से दु:खों की जड़ यही है, न कि विशेष प्रकार की हमारी संस्थायें।

हमारी समस्याओं का हल अपने विकास की प्रगति को तीव्र करने में है जिससे हम सदा के लिये अपनी निम्न प्रकृति के पार हो जायें। पारमार्थिक (प्रज्ञान) चेतना का उदय होने दीजिये और ये समस्यायें - राजनीतिक,

---

1. विचारों की एकता
2. जहाँ तक विकास का सम्बन्ध है इसमें सन्देह नही कि जाति-पाति में अन्तर होता है। विकास के अनेक मार्ग होते हैं और जाति-जाति में तथा व्यक्ति-व्यक्ति में पारस्परिक विभिन्नतायें होना अनिवार्य है। - लेखक

आर्थिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सदा के लिये शान्त हो जायेंगी। उस चेतना के प्रभाव से हमारे मूल्यों में पूर्ण परिवर्तन हो जायेगा और हमारे लिये परिवेश का रूपान्तरण हो जायेगा।

परिवेश के परिवर्तन से कोई विस्तृत या स्थाई विकासीय प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकते। यह अस्थाई और तात्कालिक व्यवस्था है। एकान्तवास मनुष्य को कामवासना से मुक्त नहीं कर सकता। न ही सम्पत्ति का विलोपन[1] उसे उसकी संग्रह करने की वृत्ति से छुटकारा दिला सकता है। यह केवल उस प्रवृत्ति को कुछ समय के लिये रोक रखता है। इसका समाधान और कहीं है। विकास का अधिष्ठाता[2] हमारे विकास की गति को निर्धारित करता है। निस्सन्देह हम इसमें स्वल्प मात्रा में अपना योगदान कर सकते हैं।

खण्ड 3

अब हम अधिक विस्तृत विवेचना पर आते हैं। जहाँ तक विकास का प्रश्न है वर्तमान मानव समाज मनुष्यों का सजातीय समूह है। आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों की भाँति पिछड़ी हुई जातियाँ लगभग लुप्त हो गई हैं क्योंकि उनके विकास के लिये पृथ्वी उपयुक्त नहीं रह गई। यह सामान्य मानव जाति के विकास की माँगों के अनुकूल बना ली गई है।

जबकि मनुष्य में शुभ का प्रसार हो रहा है जैसा कि विस्तृत होने वाली मानवी सहानुभूतियों और वर्द्धमान अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है, हम यह भी पाते हैं कि मनुष्य में अशुभ भी सशक्त रूप से प्रभावकारी हो रहा है। ऐसा काल पहले कभी नहीं आया था और न ही मनुष्यों का उपजाया दु:ख कभी इतना गहरा था। मनुष्य स्वभाव की बुराईयों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानव दिव्यत्व की ओर नहीं बढ़ रहा है, वरन् वह पाशविक स्तर की ओर गिर रहा है। उसके स्वभाव में विकास या सुधार नहीं हुआ बल्कि निश्चित पतन हुआ है।

बचपन निष्पापता और अज्ञान की अवस्था है। उस काल में बड़ों की

---

1. (अधिकार की) समाप्ति
2 स्वामी, जिसकी देखरेख में सब चलता है, नियामक
3. नीतिनिर्माता (नीतियों को, नियमों को लिपिबद्ध करने वाले, लिखने वाले)
4. पीछे चलना (follow)

आज्ञा का पालन स्वाभाविक होता है। आज का मानव उस बाल्यावस्था को पार कर चुका है जिसमें उसका नेतृत्व पुरातन समाज के स्मृति-कार[3] या पूर्णात्मा करते थे। उनका श्रद्धापूर्वक अनुगमन[4] किया जाता था। वह इसका स्वर्ण युग था। तब अशुभ नहीं पनपा था अत: उस समय कोई विशेष समस्यायें भी नहीं थीं।

बच्चा बढ़ता है। वह आत्मचेतन होता है। युवा होने पर वह अपने लिये और अपने माता-पिता के लिये एक समस्या बन जाता है। इच्छायें, भावावेश, आकर्षण और घृणा जगती हैं और उसे परेशान करती हैं। स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की भावना, शक्ति और सम्पत्ति के लिये लालसा तथा श्रेष्ठता और हीनता की ग्रन्थियाँ[1] उसमें उत्पन्न हो जाती हैं। यह कठिनाइयों का काल होता है। फिर भी यह आने वाली परिपक्वता[2] के लिये आवश्यक तैयारी है जिस अवस्था में युवावस्था के तूफान शान्त हो जाते हैं। युवावस्था में बहुत शक्ति व्यर्थ जाती है और बहुत सा अनुभव अर्जित किया जाता है। व्यक्ति को संयत[3] बनाने के लिये यह आवश्यक है। ऐसी ही दशा आज के मानव की भी है। हम एक संकट के काल से गुजर रहे हैं जिसमें उन्मत्त[4] युवावस्था के सभी लक्षण विद्यमान हैं। अशुभ और दु:ख का होना स्वाभाविक है।

जिस प्रकार हम युवावस्था की भर्त्सना नहीं कर सकते वैसे ही हम वर्तमान युग[5] की भर्त्सना नहीं कर सकते। बाल्यकाल में निष्पापता होती है परन्तु अज्ञान और असहायता भी होते हैं। युवावस्था में शक्ति होती है पर अशुभ और उन्माद[6] से युक्त। परन्तु अनुभव से उन्माद छँट जाता है और अशुभ दूर हो जाता है जिससे शक्ति, बुद्धिमत्ता और ज्ञान उत्पन्न होते हैं। युवक परिपक्व होकर उपयोगी और संयत नागरिक बन जाता है। जब मानवता इस संकट काल से गुजर चुकेगी तो पारमार्थिक (प्रज्ञान) चेतना की

---

1. गाँठें
2. पकना, विकसित स्थिति प्राप्त करना
3. नियन्त्रित, गम्भीर, शान्त
4. नशे में चूर
5. निश्चय ही हमें नवयुवकों पर नजर रखनी होगी कि वे कहीं अपनी या दूसरों की हानि न कर बैठें जिसका कोई उपचार न हो सके। उनकी स्वतन्त्रता पर कुछ अंशों में हमें अंकुश लगाना पड़ सकता है। - लेखक
6. पागलपन

ड्योढ़ी पर खड़ी होगी। हम दिव्यत्व की ओर बढ़ रहे हैं। वर्तमान समय यद्यपि दुःखमय है परन्तु आवश्यक है। यह एक अवस्था है जिससे गुजर कर हमें पार जाना है।

मानव का भविष्य अन्धकारपूर्ण नहीं है। वह यशस्वी है। पारमार्थिक (प्रज्ञान) चेतना का उदय पहले इसके कतिपय सदस्यों में होगा और फिर वह जाति भर में फैल जायगी। एक जाग्रत मानव समाज बनेगा और एक स्वर्ण युग जिसके निर्माता हम स्वयं होंगे। यह प्रबुद्ध निष्पापता का युग होगा, शक्ति और प्रेम का। हम निश्चय ही उस ओर अग्रसर हो रहे हैं। परन्तु हमको शताब्दियों तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी।

अध्याय 11
मानवीय विकास

प्राण के द्वारा स्थाई दैहिक अस्तित्व का विकास हो चुकने पर उससे उच्चतर तत्व की उत्पत्ति के लिये भूमि तैयार होती है। पाशविक देह में अधिक मिश्रित सोद्देश्य क्रियाओं के करने की क्षमता होती है परन्तु उसमें उद्देश्य के बोध का और उसकी उपलब्धि के साधनों के बोध का अभाव होता है। यह बुद्धिमान यन्त्र [1] की तरह व्यवहार करता है जो जटिल क्रियाओं का सम्पादन सुचारू रूप से कर लेता है लेकिन उसे ज्ञान नहीं होता। वह केवल यन्त्र है और इस दशा में पशु यन्त्र ही है। उनमें न कल्पना होती है, न तर्क बुद्धि और न पर्याप्त इच्छा शक्ति। मनुष्य और पशुओं में भेद कल्पना, तर्क बुद्धि और संकल्प के आधार पर होता है। इन क्रियाओं के लिये मनुष्य के अधिक विकसित मस्तिष्क की आवश्यकता होती है और वह मानव में पाया जाता है न कि पशु में। मन वह नया तत्व है जिस पर इसका दायित्व [2] है। इसके विकास की कहानी मानवीय विकास के सम्पूर्ण क्षेत्र की कहानी है।

मन एक बहुत विस्तृत तत्व है। मानवीय चेतना के भावनात्मक और तार्किक दोनों पक्षों का इसमें समावेश होता है। यद्यपि प्राण और इनके बीच के अन्तर की तुलना में इनका पारस्परिक अन्तर कम है, फिर भी ये बिल्कुल भिन्न तत्व हैं। यद्यपि विकास के सभी स्तरों में ये एक दूसरे को बड़ी मात्रा में प्रभावित करते हैं फिर भी इनके विकास का मार्ग अलग-अलग है। वास्तव में ये सहोदर [3] तत्व हैं और इसी प्रकार इन्हें उत्तम रीति से समझा जा सकता है। हम बारी-बारी से इनका अध्ययन करेंगे। साधारणतया भावनात्मक मन को मानस कहते हैं और तार्किक मन को बुद्धि। हम इन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करेंगे।

---

1. क्योंकि किसी विशेष कार्य के सम्बन्ध में ऐसा ही प्रतीत होता है। - लेखक
2. ज़िम्मेदारी
3. साथ-साथ पैदा हुये (एक ही माँ के गर्भ से)

भावनात्मक मन या मानस

विकास के मानवीय स्तर पर पहुँचने पर चैतन्य-ऊर्जा से मानस का प्रादुर्भाव होता है जिसको ज्योतित [1] तत्व भी कहते हैं।

पशु सदा संज्ञान के प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक (percephal) स्तर पर रहता है। वस्तुओं को वह एक दूसरे से नितान्त भिन्न देखता है। उनके बीच वह किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। वह दो कुत्तों या दस कुत्तों को एक-एक करके जान सकता है परन्तु "कुत्ता" का समान्य प्रत्यय [2] (concept) नहीं बना सकता। मानस में यह योग्यता होती है। वह प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक ज्ञान (perception of senses) से स्थाई सामान्य प्रत्ययों को बना सकता है जबकि ऐन्द्रिक ज्ञान तुरन्त ही मिट जाते हैं। इस अर्थ में यह एक श्रेष्ठतर इन्द्रिय है। सभी इन्द्रियों के प्रत्यक्ष ज्ञान का इस प्रकार उपयोग करने की, और एक या सभी इन्द्रियों द्वारा अनुभूत ज्ञान के आधार पर सामान्य प्रत्यय बनाने की इसमें क्षमता है।

इसके कारण मानस इन्द्रियों के ऊपर प्रबल अधिकार रखता है। इस प्रकार निर्मित सामान्य प्रत्ययों से यह प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रभावित कर सकता है। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ मनुष्य प्रत्यक्ष करता है वह उसकी तुलना में बहुत कम है जो वह महसूस [3] करता है। मानस में संचित और उससे प्रवाहित संप्रत्ययों [4] के द्वारा चित्र में रंग और विवरण भरे जाते हैं। बहुत दूर समुद्र पर हमें एक खड़ी रेखा दृष्टिगोचर होती है और हम तरंगों पर तैरते हुये एक जहाज को अपनी ओर आते हुये देखने लगते हैं। इस प्रकार सम्बन्ध जोड़कर, मानस ऐन्द्रिक क्रिया को तीव्रतर करता है और उसका पूरक बन जाता है। जिस भी इन्द्रिय की ओर यह मुड़ता है उसी को रंग और गति से आलोकित [5] करता है। मानस एक प्रधान इन्द्रिय (master sense) है।

इसमें कल्पना की क्षमता है। चेतना के आन्तरिक पटल [6] पर नित्य नये क्रमचयों (permutations) और संयोजनों (combinations) में नई पृष्ठभूमि

---

1. इसे 'ज्योतित (या तारकित)' कहते हैं क्योंकि ज्योतित देह एक तारा के समान प्रकाशित होती है। - लेखक
2. धारण, विचार, संकल्पना
3. प्रतीत
4. धारणाओं, विचारों, संकल्पनाओं
5. प्रकाशमान
6. पर्दा

में और नये क्रम में, तथा नये रंगों और नई प्रचुरता में प्रत्यय उभारे जाते हैं। नित्य नये पदार्थों और विषयों का पुरानों में से उद्‌भव होता है। यह मानस की सृजनात्मक शक्ति है जिसके कारण बड़ी मात्रा में विज्ञान, कला और साहित्य में मानव उन्नति करता है। बच्चे का मन अपने कल्पना-जगत में लिपायमान[1] रहता है। वह आत्मचेतन (self conscious) नहीं होता। न उसमें तर्क-बुद्धि होती है। वह मानस के विकास में प्रारम्भिक स्तर का प्रतिनिधि है।

पशु में सहज प्रवृत्तियाँ-प्राणिक रुझानें, होती हैं। उसमें यौन भावना होती है। वह डरता और रुष्ट होता है। वह क्रुद्ध होता है, यहाँ तक कि डाह करता है। वह अपने सन्तान की सार सम्भार[2] करता है और आवश्यक होने पर उसके लिये बड़े बलिदान भी करता है। परन्तु यह सब जातीय विकास के हित में और दैहिक अस्तित्व को कायम रखने के लिये होता है। मनुष्य में सहज प्रवृत्तियाँ प्रसुप्तावस्था[3] में चली जाती हैं। मानस के विकास के साथ ही भावनायें उत्पन्न होती हैं और वे प्रभावकारी होकर मानुषी व्यवहार को निर्धारित करती हैं।

मनुष्य की भावनायें पशु की सहज प्रवृत्तियों से विकसित होती हैं परन्तु उनसे ऊपर उठ जाती हैं। भावनाओं के माध्यम से चैतन्य-ऊर्जा अपने आनन्द पक्ष की पूर्ण अभिव्यक्ति को खोजती है। जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता है भावनायें उसके कार्यों के स्रोत बनती हैं। इच्छा के लिये ये धुरी का काम करती हैं जिस पर ये चक्कर काटती हैं। मानव जीवन में जो कुछ सुखद या आकर्षक है तथा जो नीरस और कटु है, सभी इन भावनाओं के कारण है। भावनाओं के बिना मानव की कला और साहित्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

मानस संवेदन में गहराई उत्पन्न करता है। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य अधिक सुखी और बहुत अधिक दु:खी भी हो सकता है। अधिक संवेदनशीलता के साथ वह अधिक ग्रहणशीलता का विकास करता है। एक ही प्रकार की उत्तेजनाओं का उसको पशुओं की अपेक्षा अधिक भान[4] होता है। यह मनुष्य जीवन के भौतिक पक्ष का वर्णन है जो उसके नाड़ी संस्थान के शोधन का

---

1. सिमटा, बन्द, आवेष्ठित, तल्लीन
2. देखभाल
3. अक्रिय, जैसे नींद में
4. अहसास, प्रतीति

फल है परन्तु भावनाओं के कारण मानव के लिए सुखों और दु:खों का एक बिल्कुल नया क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। सभ्य मनुष्य के सुख और कष्टों के प्राथमिक स्रोत उसकी इच्छायें और भावनायें हैं। भौतिक स्रोत गौण हैं।

मनुष्य इच्छा करता है और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये परिश्रम करता है। जितनी अधिक तीव्र इच्छा होगी और जितना अधिक वह परिश्रम करेगा, इच्छा पूर्ति से उसे उतनी ही अधिक प्रसन्नता होगी और विफलता से उतना ही अधिक दु:ख।

भावनायें स्वयं ही सुख और कष्ट के कारण हैं। बच्चे के दर्शन से माँ के हृदय में प्यार का उफान[1] कितना शीतल होता है। घृणा और दुर्भावना अपना वेग शान्त होने पर भी हृदय में जलन छोड़ जाते हैं। निर्दयता से मनुष्य का हृदय कठोर हो जाता है जबकि सहानुभूति उसे कोमल कर देती है। प्रेम करना सुख है और ईर्ष्या करना दु:ख। मानस के विकास के साथ भावनायें गम्भीर होती जाती हैं। उनसे स्थाई भावों का निर्माण होता है जो श्रेष्ठ मानवीय आदर्शों को जन्म देते हैं। इन्हीं पर चरित्र का निर्माण निर्भर है।

मानस का विकास निम्न से उच्चतर भावनाओं की ओर होता है। घृणा, ईर्ष्या, क्रोध भय और दुर्भावना निम्न भावनायें हैं। नाड़ी संस्थान[2] में विष उत्पन्न करके वे भौतिक देह को हानि पहुँचाती हैं और नाड़ी संस्थान को जड़ से झकझोर करके उसे नष्ट कर देती हैं। तार्किक बुद्धि को वह चंचल बना देती हैं। वे स्वयं कष्ट देने वाली हैं। वे चेतना को मानो अवरुद्ध कर देती हैं और शरीर में प्राण के प्रवाह को रोक देती हैं। उनके कारण व्यक्ति को कष्ट होता है और समाज को भी। विकास क्रम में उनका अतिक्रमण किया जाता है। उनका स्थान उच्चतर भावनायें - प्रेम, सहानुभूति और दया ले लेती हैं। दीर्घकाल तक उच्च और निम्न भावनायें साथ-साथ रहती हैं और उनके बीच मनुष्य खिलौना सा बना रहता है। गेंद की तरह वह एक भावना से दूसरी भावना की ओर उछाला जाता है।

पिंगला नाड़ी मण्डल (sympathetic nervous system) भावनात्मक

---

1. उमड़ना
2. R.W. Trine कृत In Tune with the Infinite नामक पुस्तक देखें। - लेखक
3. आयु, उम्र

मन का अर्थात् मानस का आसन है। बच्चे की वय[3] के साथ उसका केन्द्रीय नाड़ी मण्डल (central nervous system) विकसित होता है। उसका भावनात्मक मन धीरे-धीरे पिछड़ जाता है और उसका तर्कशील मन अर्थात् बुद्धि आगे बढ़ती है। इस भावनात्मक क्रिया के पीछे मानस तत्व रहता है जो पृष्ठभूमि में काममय शरीर (emotional body) का निर्माण करता है और यही इन अनेकों क्रियाओं का वास्तविक आधार है।

हमने प्राणमय शरीर या आकाशीय प्रतिच्छाया के विषय में अध्ययन किया है। यह प्राणिक विकास का माध्यम है। इसी प्रकार काममय शरीर ज्योतित विकास का माध्यम है। यह शरीर ज्योतित परमाणुओं[1] से बना होता है जैसे भौतिक शरीर भौतिक परमाणुओं से निर्मित होता है। भौतिक परमाणुओं की तुलना में प्राणिक और ज्योतित परमाणु अपेक्षाकृत उच्चतर स्तर के होते हैं। गुह्य[2] (occult) तत्वों के अध्ययन से प्राणिक और ज्योतित पदार्थों[3] की प्रकृति का अधिक अच्छा बोध प्राप्त हो सकता है।

पशु स्तर पर समूह मानस होता है और आकाशीय प्रतिच्छाया उसी का विस्तार है। मानस की वृद्धि के साथ ही विकासमान चैतन्य-ऊर्जा आत्म निर्भर बनने में समर्थ हो जाती है और एकल व्यक्ति का उदय होता है। व्यक्ति के अनुभव अब सीधे और पूर्ण रूप से उस पर प्रतिक्रिया करते हैं। दूसरों से भिन्न एक व्यक्तित्व विकसित होता है। विकास के साथ मनुष्यों की भावनाओं में अन्तर आता है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय होता है।

पशु के ज्योतित शरीर होता है क्योंकि मानस का प्रारम्भिक उदय पशु जगत में मिलता है। तब वह संवेदना शून्य, निष्क्रिय और गतिहीन होता है। मनुष्य जाति में यह जाग्रत होता है और जैसे-जैसे मानवीय विकास आगे बढ़ता है यह अधिकाधिक ग्रहणशील, क्रियाशील और देदीप्यमान[4] होता

---

1. जैसे प्राणिक शरीर प्राणिक परमाणुओं का बना होता है। - लेखक
2. छिपे हुये, रहस्यमय
3. 'Hidden side of things' और 'Occult Chemistry' नामक थियोसोफिकल पब्लिकेशन (अडयार, मद्रास) की पुस्तकों का अध्ययन लाभप्रद होगा। - लेखक
4. चमकता हुआ, आलोकमय
5. प्राणिक तथा तारकित शरीर सूक्ष्म दृष्टि द्वारा देखे जा सकते हैं। यह बहुत उच्च स्तर के कम्पनों को ग्रहण करने की क्षमता रखती है अत: उन्हें देख सकती है। - लेखक

जाता है।[5] भावनायें और संवेदन इसी शरीर के कम्पन हैं।

तर्कशील मन अर्थात् बुद्धि

तर्कशील मन अथवा बुद्धि सहोदर[1] तत्व है। मानस के पश्चात् यह प्रकट होता है और उसको संयम में रखने की इसमें निहित सामर्थ्य है। अत: यद्यपि यह वय में छोटा है परन्तु दोनों में जेठा कहा जा सकता है।[2]

मानस संप्रत्यय अथवा साधारण विचार बना सकता है। कल्पना भी कर सकता है। बुद्धि अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त विचार एवं आदर्शों के निर्माण के लिए सक्षम है। संप्रत्यय का रूप और सम्बन्ध होता है परन्तु अमूर्त विचार एक हवाई वस्तु है।[3] भौतिक जगत में इसका कोई प्रतिरूप नहीं होता। यह अमूर्त है। संप्रत्ययों से बुद्धि विचार प्राप्त करती है। विचार संप्रत्ययों को जोड़ते हैं। इससे सोचने की प्रक्रिया सम्भव होती है। यह बुद्धि की विशेषता है।

संप्रत्ययों और विचारों के सम्बन्ध से विचार प्रक्रिया बनती है। इसमें उनकी पारस्परिक तुलना और विरोध, आगमनों[4] और निगमनों[5] का समावेश होता है। आगमनों और निगमनों से तर्कणा (तर्क करने की शक्ति) बनती है।

इस तर्कणा शक्ति के द्वारा बुद्धि अ और ब का भेद समझती है। उसमें विवेक की क्षमता है। कल्पना के संयोग से यह श्रेष्ठ भावनाओं और उच्च आदर्शों का निर्माण करती है। यह दर्शन को जन्म देती है और वैज्ञानिक अनुसन्धान की दृढ़ नींव है।

बुद्धि के साथ संकल्प जो चैतन्य-ऊर्जा का क्रियात्मक पक्ष है, विकसित होता है। वह अपने साथ चैतन्य-ऊर्जा का बल लिये रहता है। वह बुद्धि के किसी भी मार्ग में मोड़ा जा सकता है। तर्कणा शक्ति से संयुक्त होने पर यह जीवन में संयमन करने वाला तत्व बन जाता है। मनुष्य अच्छे और बुरे को

---

1. एक ही गर्भ से पैदा हुये
2. क्रम में बाद में प्रकट होने वाला तत्व उच्चतर होता है - लेखक
3. उदाहरण के लिए - 'अच्छाई', 'बुराई', 'उज्जवलता' विचार हैं - लेखक
4. विशेष से साधारण नियम का अनुमान
5. उदाहरणों के विश्लेषण से प्राप्त ज्ञान

पहचानता है, अच्छा बनने का संकल्प कर सकता है और अच्छा 'बन' सकता है। जब मानस के आविर्भाव से सहज प्रवृत्तियों का प्राणिक जीवन विच्छिन्न हो जाता है, और उच्चतर और निम्नतर भावनायें जाग्रत हो जाती हैं तब मानवीय चेतना भयंकर संघर्ष का क्षेत्र बन जाती है। मनुष्य तब कभी इधर और कभी उधर खींचा जाता है। तर्क बुद्धि उसे मार्ग दिखा सकती है और इच्छा शक्ति उसे मार्ग का अनुसरण करने के लिये बल प्रदान कर सकती है। आत्मसंयम इन्हीं दोनों, तर्क बुद्धि और इच्छा शक्ति, पर आधारित है। तब मनुष्य, प्राण और मानस पर अंकुश[1] रख सकता है।

बुद्धि की अन्तिम परन्तु महत्वपूर्ण क्रिया मनुष्य के अहंभाव या 'मैंपन' को तीव्र करना है। उसकी मानसिक शक्तियों की वृद्धि के साथ अनूठा आत्म श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न होने लगता है। उसकी दृष्टि में वह स्वयं और उसके अधिकार वाली वस्तुयें शेष मानव समाज की तुलना में श्रेष्ठ दिखाई पड़ने लगती हैं। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरा तर्क, मेरा देश, मेरी जाति, मेरा मत, मेरा ''वाद'', मेरा कार्य इत्यादि उस 'मेरेपन' की जंजीर की कड़िया हैं जो एक ओर उसे भौतिकता से बाँधती हैं और दूसरी ओर उसके और संसार के बीच एक लोहे की दीवार खड़ी कर देती हैं। वह स्वनिर्मित अहंभाव के लौह दुर्ग का बन्दी बन जाता है। सब पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है और उनसे यह मनवाना चाहता है कि समस्त समाज के बीच वह सबसे महान श्रेष्ठतम, सबसे बुद्धिमान, शूरवीर और जाने क्या-क्या है और देवताओं से भी, यदि उन तक उसकी आवाज पहुँच सके। वह अपनी निम्न प्रकृति के हाथों का खिलौना बन जाता है जो इच्छा के रूप में अपना सारा वेग उस पर डाल देती है। तब वह अपने लिये और समाज के लिये बन जाता है, एक दैत्य, एक अभिशाप।

यह अहंभाव उसके पृथक अस्तित्व को सबल कर देता है और वह दूसरों से अलग-थलग खड़ा हो सकता है। इस मोह के जादू के प्रभाव से वह गलतियाँ करता है। वह मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि पागल हो जाता है। एक दिन इसकी प्रतिक्रिया होती है। उसे अभूतपूर्व कष्ट होता है। तब उसमें बड़ी मात्रा में आत्म चेतना जगती है। वह अन्तर्दर्शन करना सीखता है और अपने दोषों के प्रति सजग हो जाता है।

---

1. नियन्त्रण

वास्तव में आत्मचेतना मानस के उदय के साथ विकसित होने लगती है। पशु कभी आत्म-चेतन नहीं होता। मानव शिशु में आत्म चेतना होती है परन्तु अल्प मात्रा में। वह शर्माता है। कष्ट पड़ने पर आत्म चेतना का संकोच होता है। मनुष्य अन्दर देखने को बाध्य हो जाता है। तर्क बुद्धि और कष्ट का संयोग उसे अन्तर्दर्शी बना देता है। दर्शनों का जन्म होता है। आध्यात्मिक अभीप्सा जाग्रत होती है। मनुष्य को तर्क बुद्धि की सीमाओं का अनुभव होने लगता है और वह सच्ची उपलब्धि, स्थाई शान्ति एवं अक्षुण्ण[1] सुख की खोज करता है।

बुद्धि मनुष्य को देवत्व के धुर द्वार तक ले जा सकती है पर वह दिव्यत्व के मन्दिर के न द्वार खोल सकती है और न उसमें प्रवेश करा सकती है। बुद्धि प्रकाश है किन्तु छोटा सा।

बुद्धि में उपलब्धि का सुख है। कठिन समस्या के सफल समाधान से, वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज से और कलाकृति के सन्तोषजनक सम्पादन से सुख होता है। पशु के प्रवृत्तिमूलक सुख तथा सभ्य मनुष्य की उमंगभरी भोगरति से यह सुख भिन्न है। कलाकार, कवि, संगीतज्ञ, दार्शनिक और वैज्ञानिक की प्रसन्नता बुद्धि का सुख है। प्राण और मानस की प्रसन्नता से यह बहुत अधिक सूक्ष्म, अधिक सन्तुलित और अधिक स्थाई है। यह बुद्धि का आनन्द-पक्ष है।

बुद्धि के विकास से मानव समाज उन्नत होता है। बुद्धि की सहायता से मानस समृद्ध होता है। ललित-कलाओं और साहित्य का विकास होता है। शिष्टता और संवेदनशीलता सभ्य मनुष्य के लक्षण बन जाते हैं। उसकी सहानुभूति का विस्तार होता है और सम्पूर्ण मानव जाति को वह अपने अंक में भर लेती है। राष्ट्रीयता की वृद्धि होती है दूसरी ओर मानस से सम्पन्न बुद्धि आगे बढ़ती है। दर्शन और विज्ञान जन्म लेते और बढ़ते हैं। नैतिकता की भावना उत्पन्न होती है। आत्मसंयम और आत्मोन्नति के लिये संघर्ष प्रारम्भ होता है। समानता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता इत्यादि के उदात्त[2] आदर्श विकसित होते हैं।

इस चित्र का एक अरोचक किन्तु अविस्मरणीय पक्ष भी है। उच्चतर

---

1. अविभाज्य, कभी न नष्ट होने वाला
2. उच्च, ऊपर उठाने वाले

भावनाओं (प्रेम, सहानुभूति इत्यादि) के साथ ही निम्नतर भावनायें (कामुकता, क्रोध, ईर्ष्या) और अहंकार भी बढ़ते हैं। इच्छा पूरे जीवन पर छा जाती है। स्वयं तर्क बुद्धि ढ़क जाती है। इसका उपयोग निम्नस्तरीय भावनाओं से उत्पन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये किया जाता है। फल होता है भयंकर नर संहार और भयानक दमन। मनुष्य सीमा से अधिक आत्म केन्द्रित, लुटेरा और अत्याचारी हो जाता है।

अपने इस भयंकर भाग्य के लिये मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। वह उन इच्छाओं का दास बन जाता है जिनसे वह स्वयं चिपका रहता है। वह अपना रुधिर चूसता है। वह समझ नहीं पाता और विवश हो जाता है। वह रोता है और अपने कष्टों के लिये सारे संसार को दोष देता है। एक दिन आता है जब उसे वास्तविकताओं का ज्ञान होता है। उसे अपने कष्टों का कारण ज्ञात होता है। परन्तु वह स्वयं को असहाय पाता है। अपनी निम्नतर प्रकृति को जीतने के लिये उसकी तर्क बुद्धि और इच्छा शक्ति में पर्याप्त बल नहीं होता। वे इतने दब्बू[1] हैं कि दैत्य के समान विशाल आकार में बढ़ती हुई इच्छा के सामने ठहर नहीं सकतीं। मानव स्वयं को निपट अराजकता[2] से घिरा हुआ पाता है, भीतर अराजकता[2] और बाहर अराजकता। अराजकता की मोहकता और परिष्कार[3] उसे मुँह चिढ़ाते हैं। उस पर सर्वनाश का खतरा मंडराता है। मानस और बुद्धि इन दो सहोदर तत्वों के विकास के द्वारा मनुष्य ऐसी विभ्रम[4] की स्थिति में ढकेल दिया जाता है। जैसा हम आगे देखेंगे यह भावी विकास के लिये आवश्यक तैयारी है।[5]

मानस की भाँति बुद्धि एक देह का निर्माण करती है जिसे बौद्धिक शरीर कहते हैं। उसकी सहायता से यह अपना विकास कार्य करती है। ज्योतित की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतर पदार्थों से निर्मित इस देह में उच्चतर बौद्धिक क्रियाओं की क्षमता होती है। विचार इस देह के कम्पन हैं और तर्क उनकी श्रृंखलायें। प्राणमय और काममय शरीरों के ऊपर इसका सीमित अधिकार

---

1. नम्रता से झुकी
2. व्यवस्था की अनुपस्थिति
3. शुद्धिकरण, शोधन
4. गतिरोध, क्या किया जाय, क्या न किया जाय
5. अगला अध्याय 12 देखें। – लेखक
6. तर्क बुद्धि के अनुचित दबाव से जीवन शुष्क और नीरस बन जाता है, लगभग अमानुषी। इससे भावनाओं का हनन होता है और जीवन सूख जाता है। – लेखक

होता है। यह उनकी क्रियाओं को दबा सकती है परन्तु उन्हें सफल नहीं बना सकती और न उन्हें श्रेष्ठतर एकता [6] में स्थापित कर सकती है। बुद्धि उनकी बड़ी बहिन मात्र है। जन्म देने वाली माँ नहीं। यह कार्य एक दूसरे आगामी तत्व के लिये आरक्षित है।

भौतिक स्तर पर शरीर में केन्द्रिय नाड़ी संस्थान और विशेषतया मस्तिष्क बौद्धिक क्रियाओं के आधार होते हैं। बुद्धि इसका विकास पिंगला नाड़ी मण्डल और उसके फलस्वरूप भावनात्मक मन को अपने अधीन रखता है। मस्तिष्क के विकास की आवश्यकता विकासमान बुद्धि के लिये होती है क्योंकि इसे अपनी अभिव्यक्ति के लिये मानस [1] से भी अधिक श्रेष्ठ यन्त्र की अपेक्षा है।

1. उन्माद की अवस्था में मस्तिष्क में खराबी आती है न कि बुद्धि में। भौतिक स्तर पर बुद्धि की सम्यक अभिव्यक्ति नहीं होती। नियन्त्रण संस्थान एवं संकल्प भी कम या अधिक मात्रा में निश्चेष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से भावावेश अल्पकालिक उन्माद ही है। - लेखक

अध्याय 12

अतिमानुषी विकास

चैतन्य-ऊर्जा मानुषी विकास तक आकर रुक नहीं जाती। यह अधिक लम्बे पगों से आगे बढ़ती है जिससे कि उसमें निहित सर्वातीत सत्ता का प्रस्फुटन [1] हो सके।

तर्कशील मन (बुद्धि) मानव का विशिष्ट लक्षण है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, इसके विकास के फलस्वरूप मनुष्य में शुभ और अशुभ अधिक तीव्र होते जाते हैं और उसके सुख और दुख भी। इस कारण से उसके अन्तर में संघर्ष उत्पन्न होता है। भोग की वस्तुओं का आकर्षण मिट जाने पर भी अपने को संयम में रखने में असमर्थ मानव एक विचित्र परेशानी में पड़ जाता है। तर्क काम नहीं देता। वह असहाय हो जाता है। इस प्रकार दूसरे उच्चतर तत्व प्रज्ञान (Wisdom) [2] के आगमन के लिये क्षेत्र तैयार हो जाता है।

मन जान सकता था, संवेदन ग्रहण कर सकता था और इच्छा कर सकता था। मन के द्वारा चैतन्य ऊर्जा की पूर्णतर अभिव्यक्ति हुई जो अभूतपूर्व थी। इससे प्रत्येक स्तर पर विविधता का विकास हुआ और उसमें तीव्रता आई। इसने जीवन को विविधता के रंगों से समृद्ध किया। इसने शुभ और अशुभ को जन्म दिया और आत्मसंयम की समस्या खड़ी की। सुन्दर लय के साथ ही इसने अव्यवस्था उत्पन्न कर दी। अब विविधता में एकता लाने के लिये, अनेक को एक की ओर बढ़ाने के लिये, और कर्ता को शुभ एवं अशुभ के पार ले जाने के लिये प्रज्ञान का आगमन होता है। यह दुर्व्यवस्था का सदा के लिये अन्त करने आता है। यह आत्मसंयम की समस्या को ही तिरोहित कर देता है। जो कुछ करने में तर्क असमर्थ था उसके सम्पादन के लिये प्रज्ञान आता है।

प्राण चेतना की एक अवस्था को दर्शाता है। ऐसा ही भावना और तर्कशील मन के विषय में भी है। तर्कशील मन आधुनिक मनोविज्ञान के

---

1. प्राकट्य
2. प्रज्ञान (wisdom) को बुद्धिमत्ता से अलग दर्शाने के लिए इस पुस्तक में प्रज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है। - सम्पादक

चेतन मन के अनुरूप है जबकि प्राण अवचेतन मन के अनुरूप है, और सूक्ष्म भौतिक जीवन अचेतन मन के समकक्ष है। प्रज्ञान को जो चेतना से श्रेष्ठ है, अतिचेतन के समान कह सकते हैं। मनुष्य में अतिचेतन के विकास को अतिमानुषी विकास[1] कहा जा सकता है।

देह के स्थाई जीवन प्राप्त कर चुकने तक दो पक्षों वाला मन भलीभाँति विकसित हो चुकता है। केवल इन परिस्थितियों में ही प्रज्ञान का प्रकटन हो सकता है। अभी तक विकसित हो चुकने वाले तत्वों की अपेक्षा यह बहुत अधिक महत्व का तत्व है और अपने पूर्ववर्ती तत्वों पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। यह उन्हें नियन्त्रित करता है और दिव्यत्व की अनुभूति की चरम सिद्धि में, जो सर्वातीत परमेश्वर की पूर्ण अभिव्यक्ति है, भागीदार होने के लिये उन्हें तैयार करता है। प्रज्ञान परमेश्वर के सह-अस्तित्व वाले दोनों पक्षों - निरपेक्ष चैतन्य यानी परम सत्ता और निरपेक्ष ऊर्जा यानी परम सम्भूति[2] - के समान स्तर वाला है। वह स्वयं सर्वातीत परमेश्वर के बराबर स्तर का नहीं है।

सभी विभिन्नताओं के बावजूद और उन्हें आश्रय देते हुये भी, सब विभिन्नताओं में एकत्व व्याप्त है। इस एकत्व की चेतना ही प्रज्ञान है। एक अपरिमेय, अकर्ता, निर्गुण, अविकारी ब्रह्म अर्थात् आत्मा सबमें स्थित है और सब उसमें स्थित हैं। प्रज्ञान इस अनुभूति की कुन्जी है। एक ओर यह एकत्व की अनुभूति है और दूसरी ओर संसार के रूप में क्रीड़ा करने वाली निरपेक्ष ऊर्जा का बोध है। यह परिवेश का पूर्ण बोध है। लौकिक अर्थ में ज्ञान का अर्थ बुद्धिमत्ता यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यह सत् और सम्भूति दोनों का बोध है।

तर्कशील मन से यह भिन्न है। मन तीन आयामी बोध प्राप्त करने में समर्थ है। यह एकता अथवा विभिन्नता को अलग-अलग समझ सकता है परन्तु दोनों को एक साथ नहीं समझ सकता। इसमें उसे विरोध जान पड़ता है। यह समझ सकता है कि एक वस्तु काली या सफेद है परन्तु वस्तु का एक साथ काली और सफेद होना इसकी समझ में नहीं आता। इस असम्भावना से उसे धक्का लगता है। यह सत्ता का केवल एक पक्ष समझ

---

1. अध्याय 1 देखिये - लेखक
2. अध्याय 2 देखिये - लेखक

सकता है जिसकी प्रतीति वस्तु, देश और काल के माध्यम से होती है। उसके आगे इसकी गति नहीं है। जहाँ बुद्धि की सीमा समाप्त होती है वहाँ से प्रज्ञान का प्रारम्भ होता है। ज्ञान अनेक में एक और एक में अनेक देखता है। उसे सबमें अपना और अपने में सबका बोध होता है। इसे निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति होती है। इसे उस सत्ता का भान हो सकता है जो अभी तक व्यक्त नहीं हुई।

प्रज्ञान एक तत्व है। यह न किसी तर्क से उत्पन्न होता है और न किसी कर्म का फल है। यह उच्चतर चेतना है जो स्वयं को उस व्यक्ति के प्रति प्रकट कर देती है जो इसके लिये तैयार है। अन्य सभी तत्त्वों की भाँति इसका उदय होता है और पूर्ण अभिव्यक्ति तक धीरे-धीरे इसकी वृद्धि होती है। प्रारम्भिक दशाओं में यह चेतना आती जाती रहती है। बाद में यह आकर अधिकाधिक अवधि तक ठहर जाती है। जब यह तत्व अपनी पूर्ण प्रौढ़ता पर स्थित हो जाता है तब व्यक्ति पर भावनात्मक और तर्कशील मानस की अपूर्ण और अस्थिर दृष्टि का आवरण पड़ना बन्द हो जाता है।

प्रज्ञान स्पष्टतया भिन्न कोटि की चेतना है। जैसे तर्क की प्राण से भिन्नता है वैसे ही यह तर्क से भिन्न है। इसमें और तर्क में वैसा ही अन्तर है जैसा एक ठोस पदार्थ और धरातल में। आयामी भिन्नता[2] होने के कारण धरातलों का बड़े से बड़ा समूह एक ठोस नहीं बना सकता। बुद्धि की उच्चतम कुशाग्रता प्रज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसकी प्रवृत्ति की यथार्थ कल्पना करना बुद्धि के लिये कठिन है। प्राण और मन की खाई से अधिक चौड़ी खाई तर्क और ज्ञान को अलग करती है।

कुछ जानने के लिये तर्कशील मन को आगमन और निगमन की सप्रयास[2] प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। मन वस्तुओं और घटनाओं को दूर से देखता है। प्रज्ञान मनुष्य को प्रत्येक वस्तु और स्थिति के साथ एकात्म[3] भाव स्थापित करने के योग्य बनाता है। इससे एक अन्तरंग बोध प्राप्त होता है जिसमें त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती। बोध प्राप्त करने के

---

1. धरातल में मोटाई नहीं होती – लेखक
2. श्रमसाध्य, जिसके लिए खूब यत्न करना पड़े
3. तादात्म्य, 'वह' और 'मैं' की 'एकता'

लिये किसी अन्य प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ जानने की इच्छा हो उस विषय से व्यक्ति को केवल एकात्म स्थापित करना होता है।

इस योग्यता का विकास तब होता है जब प्रज्ञान का पूर्ण प्रकटन होता है परन्तु यह प्रकटन यथासमय और क्रमशः होता है। प्रज्ञान का प्रथम प्रकाश अर्न्तबोध की झलकों में होता है। हम बातों को एक झलक में समझ लेते हैं और वे सत्य सिद्ध होती हैं चाहे वे भूत, वर्तमान या भविष्य से सम्बन्धित हों। हम न इस प्रक्रिया से परिचित हैं और न हमारा इसके ऊपर नियन्त्रण है। आगे चलकर यह एक स्थिर आलोक[1] में विकसित हो जाता है जो देश और काल की सीमाओं को भेदकर निकल जाता है। इस चेतना की शुद्धता में अतीत की घटनाओं और आगामी घटनाओं की छाया दिखाई पड़ती है।

प्रज्ञान से वस्तुओं का पूर्णतर बोध प्राप्त होता है। तर्क केवल कुछ पटल[2] जानता है और एक समय में एक ही पटल। अतः तर्क की अपेक्षा प्रज्ञान अधिक ऊँचा है।

इतना नये तत्व, प्रज्ञान के चित् (संज्ञान) पक्ष का वर्णन है।

प्रज्ञान पूर्ण स्थैर्य[3] स्थिरता की चेतना है। यह पूर्ण निष्क्रियता (अकर्म की दशा) है। सभी क्रियायें इसमें लय हो जाती हैं। कर्तापन का भाव लुप्त हो जाता है। कर्मों के संस्कार धुल जाते हैं। प्रज्ञान के विकसित होने पर हम परिवेश में घटने वाले सम्पूर्ण क्रियाकलापों को देखते हुये भी उनके प्रभाव से अछूते साक्षी बने रहते हैं। हम कर्म नहीं करते वरन् परमेश्वर की निरपेक्ष ऊर्जा में होने वाली क्रिया का दर्शन करते हैं।

मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों से मुक्त हो जाता है। कर्तापन के अभाव में शुभ और अशुभ का कोई अर्थ नहीं होता। अहंकार का लोप हो जाता है। प्रज्ञान चेतना में न 'मैं' है और न 'मेरा'। 'यह है' और इतना पर्याप्त है। कर्म के लिये उत्साह नहीं रहता और न कर्महीनता के लिये, क्योंकि दोनों परिवेशों में घटित होते हैं। न तो संग्रह के लिये प्रेरणा है और न त्याग के लिये। यह स्वयं की कृतकृत्यता है। न कोई दबाव है और न तनाव। यह चेतना की प्रतिक्रियाहीन अवस्था है, अस्तित्व की सुखद स्थिति, जो विकलता[4] की सम्भावना के परे है।

---

1. प्रकाश
2. पक्ष, पहलू
3. स्थिरता
4. क्षोभ, डगमगाहट

बाहरी क्रिया या क्रियाहीनता से ज्ञान की उपस्थिति या उसके अभाव का संकेत नहीं मिलता। यह प्रज्ञान चेतना किसी बाहरी परिस्थिति पर निर्भर नहीं होती। यह कर्म और कर्महीनता दोनों के साथ रह सकती है। परिवेश से इसकी कोई माँग नहीं है और न कोई बाहरी परिस्थितियाँ इसे सीमित कर सकती हैं और न ही उत्पन्न कर सकती हैं।

कामना अब इच्छा शक्ति को क्रियाशील नहीं करती। निम्न प्रकृति भी क्षेत्र से हट जाती है और प्रज्ञानी को कर्म में नहीं लगा सकती। अब अहंभाव इच्छा शक्ति को नहीं बाँध पाता क्योंकि चेतना उसके परे[1] स्थापित हो जाती है। प्रज्ञानी मनुष्य पूर्व संस्कारों की प्रेरणा के वेग से कर्म करता है। ऐसे पारदर्शी (स्वच्छ) संकल्प पर भावी घटनायें अपना प्रतिबिम्ब डालती हैं। वह उसी की इच्छा करता है जो घटित होने को है और जो वह इच्छा करता है वही घटित होता है। उसका संकल्प अपने व्यक्तित्व की बेड़ियों से मुक्त होता है परन्तु वह निष्क्रिय होता है। यदि वह इच्छा कर सकता है तो सर्वोच्च दृष्टि से सबके कल्याण के लिये ही।

प्रज्ञान के उदय से उथल पुथल शान्त होने लगती है। दुर्व्यवस्था दूर हो जाती है और एक नई व्यवस्था प्रकाश में आती है। प्रज्ञान के उदय से पूर्व इच्छा तत्व का अपने परम उत्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक है अत: इस अवसर पर मानव जीवन का अरुचिकर[2] उपस्थित होता है। नये तत्व के आगमन से इच्छा निर्बल हो जाती है और उच्चतर प्रज्ञानपूर्ण जीवन की आकाँक्षा इसका स्थान ले लेती है। जिस मात्रा में यह आकाँक्षा बढ़ती है उसी मात्रा में इच्छा झीनी[3] होती जाती है। इसके साथ ही शान्ति की स्थापना होती है जो अडिग है, बुद्धि के परे है और मानव को अतिमानव बना देती है। जीवन के तुमुलपूर्ण सागर में जीवन के उथल पुथल से अविचलित मानव शान्ति के स्तम्भ की भाँति खड़ा रहता है। प्रज्ञान के क्रियात्मक पक्ष को दर्शाने के लिये इतना संकेतमात्र है।

प्रज्ञान के आगमन से प्राणिक जीवन को अव्यवस्थित कर डालने वाली सुख की लालसा का अन्त हो जाता है। तर्क और इच्छा शक्ति के प्रयत्नों के बावजूद प्राणिक जीवन में व्यवस्था नहीं ला पाते। जब तक प्रज्ञान प्रतिष्ठित नहीं हो जाता तब तक संयम की समस्या बनी रहती है। योगाभ्यासी

---

1. पार 2. अप्रिय 3. छीजना, कम होना

मुनियों और माहात्माओं का तथा अनुतापियों और सिद्धान्तियों का पतन इस कथन के सत्य की पुष्टि करता है। विघ्न डालने वाले तत्व के प्रयाण कर जाने पर प्राणिक जीवन में व्यवस्था लौट आती है। प्रज्ञानी को संयम नहीं करना पड़ता क्योंकि उसे कोई प्रलोभन नहीं होता। उसके लिये आत्म नियन्त्रण की कोई समस्या नहीं है। वह लालसा, लोभ, क्रोध और घृणा के पार हो चुका है।

भावनात्मक मन के विकास के साथ निम्नतर भावनायें जगती हैं और मानव जीवन पर हावी होने लगती हैं। तर्क और इच्छा शक्ति उनको कुछ अंशों तक ही रोक सकती है। निम्नतर भावनाओं का दमन मानवी अस्तित्व के लिये निष्क्रिय ज्वालामुखियों के समान भयावह है। उनमें विस्फोट होता है और वे जीवन को समूल उखाड़ फेंकते हैं। शारीरिक रोगों और मानसिक विकारों के द्वारा वे मानव व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। यदि निम्नतर भावनाओं को छूट दे दी जाये तो मनुष्य सामाजिक जीवन को भ्रष्ट कर देगा और अन्त में अपना और अपने सहयोगियों का नाश कर देगा। वह दुविधा में पड़ जाता है। इस स्थिति से उभरने में केवल प्रज्ञान ही उसकी सहायता कर सकता है।

प्रज्ञान का विकास होने पर प्राण सुख की लालसा से मुक्त हो जाता है। यह मानस की निम्नतर भावनाओं को निकाल फेंकता है। क्रोध और भय, घृणा और मत्सर, ईर्ष्या और लोभ धीरे धीरे दूर हो जाते हैं। यह प्रक्रिया निस्सन्देह मन्द है परन्तु है सुनिश्चित। जैसे प्रकाश और अन्धकार साथ-साथ नहीं रह सकते, वैसे ही प्रज्ञान और निम्नतर भावनायें साथ साथ नहीं रह सकतीं। उनका दमन नहीं होता परन्तु चुपचाप उनका निष्क्रमण[1] हो जाता है। निकल जाने के बाद वे अपने पीछे कोई स्थाई रिक्तता नहीं छोड़ जातीं। उनके निकल जाने से अन्ततः जीवन की समृद्धि में कोई कमी नहीं होती। प्रज्ञान मानव में एक उच्चस्तरीय चेतना स्थापित करता है और जो कुछ भी उससे मेल नहीं खाता उसका बहिष्करण[2] हो जाता है।

उच्चतर भावनायें तीव्र होती जाती हैं परन्तु केवल थोड़े समय के लिये। व्यक्तित्व पर भावनात्मक मन का आधिपत्य[3] नहीं रह जाता। भावनात्मक मन अस्थिर होता है; उच्चतर मन निम्नतर की अपेक्षा कम अस्थिर है परन्तु

---

1. बाहर कर दिया जाना 2. बाहर कर दिया जाना 3. कब्जा

अस्थिर तो है ही। प्रज्ञान के उदय होने पर क्रियाशील चेतना का आसन भावनात्मक मन से इतना ऊँचा हो जाता है कि वह प्रज्ञानी को डिगा नहीं सकता। भावनायें शुद्ध हो जाती हैं। व्यक्ति संवेदनशीलता से ऊपर उठ जाता है और भावुक या संवेगात्मक नहीं रह जाता।

सुख और दु:ख अब उसे क्षुब्ध नहीं कर सकते। शारीरिक विलास और भावनापरक सुखों की सम्पत्ति वह खो देता है और साथ ही भौतिक तथा मानसिक कष्टों को भी। ये अपने रास्ते आते जाते हैं। प्रज्ञानी उनके आने पर न उल्लसित होता है और न जाने पर दुखित। उसे न सुखों का लोभ होता है और न कष्टों से घृणा। उसमें एक उत्कृष्ट[1] उदासीनता होती है जैसे भौंकते हुये कुत्ते के प्रति हाथी में। प्रज्ञान से उसे आन्तरिक दृढ़ता प्राप्त होती है और उसके स्वभाव में समता आती है जो उससे कभी अलग नहीं होती। यदि वह दु:खी होना चाहे तब भी वह दु:खी नहीं हो सकता।

प्रज्ञानी मनुष्य संवेदनशीलता खो नहीं देता और न जड़ात्मक अस्तित्व की स्थिति की ओर लौटता है। वरन् इसके विपरीत तर्कशील मन के स्तर पर रहने वाले साधारण मनुष्य की अपेक्षा उसमें बहुत अधिक संवेदनशीलता की क्षमता होती है। वह मनुष्यों और घटनाओं के आरपार देख सकता है। उसकी दृष्टि में कोई रुकावट नहीं पड़ती। आत्म प्रसाद और प्रज्ञान चेतना की स्थिरता उसे सुख रहित और दु:ख रहित कर देती है।

प्रज्ञान पूर्ण समता का भाव है। प्रज्ञानी सब में उसी एक को देखता है अत: सबको समान देखता है। उसकी दृष्टि एक पर लगी रहती है जो सब में व्याप्त है और अनेक का आश्रय है और जो सन्त, पापी, गौ, कौवा एवं मित्र और शत्रु में समान रूप से विद्यमान है। मन विभिन्नताओं की रचना करता है और असमानता का दर्शन करता है। इसकी चेतना ऊपरी धरातल पर काम करती है परन्तु प्रज्ञान जीवन की जड़ों तक को छूता है। यह एकता का दर्शन करता और उसमें निवास करता है। इसके फलस्वरूप अहंकार गल जाता है। घमण्ड मर जाता है। आक्रोश[2] का लोप[3] हो जाता है। संचय की भावना अर्थात् ममता विदा हो जाती है। भूत, वर्तमान और भविष्यत् एक

---

1. ऊँचे स्तर की, महान
2. मनोमालिन्य के कारण क्रोध
3. निरस्त, समाप्त

अनन्त में विलीन हो जाते हैं जहाँ आशा साँस नहीं ले सकती और चिन्ता जी नहीं सकती। मानसिक और भावनात्मक चेतना की बेड़ियों से मुक्त और प्राणिक जीवन के मल से शुद्ध व्यक्ति आत्म-सत्ता[1] की अनन्त वायु में साँस लेता है।

उसको वह शान्ति मिलती है जो संसार के सब सुखों के समूहों से श्रेष्ठ होती है। स्वयं अकिंचन होकर वह अपने सारे विचरण क्षेत्र का अधिपति होता है। वह कुछ खो नहीं सकता क्योंकि उसके पास कोई सम्पत्ति नहीं है। उसमें मान नहीं है अत: उसे अनादर का भय नहीं। उसकी कोई चाह नहीं होती अत: उसका कोई दायित्व भी नहीं है। वह सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता अत: नैतिकता का विचार उसमें नहीं उठता। प्रज्ञान-चेतना मानसिक चेतना से इतनी भिन्न है कि इसके वास्तविक पूर्व अनुभव के बिना इसका समुचित बोध होना प्राय: असम्भव है।

आन्तरिक समता की यह चेतना और एकता की दृष्टि उसमें एक सर्वव्यापक (सार्वभौम) सहानुभूति का भाव उत्पन्न करते हैं। अपने जीवन से उसे कोई स्वार्थ नहीं साधना होता। सबसे एक होने के कारण वह सबके लिये जीता है। ऐसा उसका स्वभाव बन जाता है। स्वार्थ से सदा अछूता रहने से परोपकार का उसके लिये कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इस प्रकार के उच्चतर जीवन की प्रकृति का बोध न कर सकने के कारण तर्कबुद्धि ऐसी शंका तक करने लगती है कि क्या इस प्रकार का जीवन वाँछनीय है? यह उसके अज्ञान का द्योतक है और इसका कोई महत्व नहीं है। जिस प्रकार अपनी निम्नतर प्रकृति से विक्षुब्ध और मानव जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं से पीड़ित मनुष्य उस पशु जीवन में वापस जाने की कभी कभी सोचने लगता है, जो जीवन मानुषी चिन्ताओं से रहित है, वैसे ही यह वर्तमान जीवन से परे जाने में भयभीत होता हुआ अपने अज्ञात यद्यपि कीर्तिमान भविष्य से भी डरता है। प्रज्ञान तर्क की अपेक्षा श्रेष्ठतर तत्व है।

विकास क्रम में अपने प्रबल विश्लेषक पक्ष से संयुक्त होकर तर्क बुद्धि मानव जीवन में सर्वोच्च निर्णायक शक्ति के रूप में उभरती है। इसका बोध

---

1 चेतना अहंभाव से परे प्रतिष्ठित हो जाती है और ससीम 'आत्म' आत्मा में लय हो जाता है जो समान रूप से सबका 'आत्म' है। - लेखक

सीमित होता है और क्षेत्र भी। भावनात्मक मन और प्राण पर यह मोटा व्यावहारिक नियम लादना चाहती है। यदि ऐसा हुआ तो जीवन शुष्क, नीरस, गतिहीन, यान्त्रिक और व्यवसायी हो जाता है। भावनायें शुष्क हो जाती हैं और उसके साथ ही मानव की चेष्टा, अनुभव और उपलब्धि की विविधता और सम्पन्नता नष्ट हो जाती है। बुद्धिवादी दार्शनिक का अथवा तपस्वी भिक्षु का उदासीनता पूर्ण जीवन शेष रह जाता है। परन्तु मानव जातियों में ऐसा नमूना दुर्लभ है।

प्रज्ञान का उदय होता है। तर्क बुद्धि उसे अपने से उत्कृष्ट मानकर पराजय स्वीकार कर लेती है प्रज्ञान नेतृत्व करता है और तर्क बुद्धि उसके अधीन काम करती है। नई व्यवस्था में तर्क बुद्धि बोध प्राप्ति का साधन नहीं रह जाती; यह प्रज्ञान के द्वारा संचित बोध को प्रकट करने का माध्यम हो जाती है। प्राण और मन के लिये यह बोध की युक्ति प्रदान करती है और उसकी व्याख्या करती है। तर्क बुद्धि का युग समाप्त हो जाता है और प्रज्ञान का युग प्रारम्भ हो जाता है। इसके साथ ही विचार और व्यवहार की तथा मानवीय दमन और धर्मान्ध निन्दाओं की असहिष्णुता समाप्त हो जाती है। भौतिक और मानसिक जगत में मनुष्य अन्य मनुष्यों के व्यक्तित्व को सहन करना सीख लेता है। तर्क से बोध कम होता है परन्तु सम्भ्रम अधिक; इसलिए वह गलती करता है और अपनी सन्तान के शान्त और समृद्ध जीवन के लिये इस विशाल और विस्तृत धरा को अति संकुचित बना देता है। अपने दर्प[1] में तर्क दूसरों के जीवन का आदर करना भूल जाता है और जीवन हन्ता[2] बन जाता है। प्रज्ञान न केवल सहिष्णु है बल्कि जीवन दाता भी है। यह सदैव व्यक्ति और समष्टि सभी के कल्याण के लिये कठिन परिश्रम करता रहता है। यह मातृ चेतना है जो सब का आधार और आश्रय है।

परदे के पीछे प्रज्ञान-शरीर (विज्ञानमय कोष) का विकास होता है। मानसिक शरीर (मनोमय कोष) की अपेक्षा यह अधिक श्रेष्ठ पदार्थ से निर्मित होता है। पूर्ववर्ती शरीरों से यह अधिक शक्तिशाली होता है। यह प्रज्ञान चेतना के वाहन का काम करता है।

---

1. बड़े होने का गर्व
2. मारने वाला, नष्ट करने वाला

इस प्रज्ञान शरीर के जाग्रत होने पर मानसिक, भावनात्मक और प्राणिक सभी शरीरों में गम्भीर परिवर्तन होते हैं। यह कम्पनों की एक नई तान छेड़ता है जो सम्पूर्ण जीवन में बजती हुई सभी असंवादी अर्थात् बेमेल सुरों को तिरोहित कर देती है। प्राण उस मल से शुद्ध हो जाता है जिसमें सुखों की लालसा की गूँज उठती थी। निम्नतर भावनाओं और इच्छा तत्व से सुर मिलाने वाले पदार्थ भावनात्मक शरीर (ज्ञानमय कोष) से निकल जाते हैं। मानसिक शरीर (मनोमय कोष) अहंकार, गर्व और आक्रोश के सुर से सुर मिलाने की क्षमता खो बैठता है। तथापि सभी शरीरों में एक व्यापक शुद्धता और प्रकाश का उदय होता है। मनुष्य एक देवता बन जाता है। नहीं, नहीं, उससे भी श्रेष्ठ। वह बन जाता है अतिमानव जो अपने विकास की चरम उपलब्धि, ईश्वरत्व में प्रवेश करने के लिये सन्नद्ध[1] है।

1. कटिबद्ध, तैयार

अध्याय 13

प्रेम चरम उपलब्धि

प्रज्ञान चेतना के विकास ने मनुष्य को चरम उपलब्धि के लिये तैयार कर दिया है। उसने पवित्रतम गर्भगृह में प्रवेश पा लिया है परन्तु मुँदी आँखों से। वह ज्योति जो सभी प्रकाशों के बाहर और भीतर प्रकाशित है, जो निरपेक्ष सत् (absolute being) और निरपेक्ष सम्भूति (absolute becoming) की जननी है, अभी तक अदृश्य है। बर्फ की भाँति शुद्ध और स्फटिक की भाँति स्वच्छ, अपनी नि:स्वार्थता में पूर्णतया पारदर्शी वह अपने चक्षुओं के खुलने की प्रतीक्षा में खड़ा है। अभीप्सा [1] विदा हो गई है, संकल्प प्रयाण कर गया है और अनन्त शान्ति के निस्पन्द सागर में वह प्रयास रहित पड़ा हुआ है। वह सबका आत्मा बन गया है, अनेकों में व्याप्त एक। वह अकर्ता बन गया है।

लम्बी अवधि के बाद प्रेम की एक किरण उसके अन्तरतम अस्तित्व का स्पर्श करती है। उसे दिव्य की, सर्वातीत परमेश्वर की झाँकी मिलती है। पिता और माता, मित्र और साथी, यज्ञों का प्रभु और विकास का अधिष्ठाता, परम कल्याण की मूर्ति, सत्य शिव एवं सुन्दर, जीव का नित्य प्रेमास्पद, विकासमान चैतन्य शक्ति की इकाई, अनेकों का एकमात्र स्रोत और उनकी गति, हमारे हृदय की अन्तर में गहराईयों में निवास करने वाला देवाधिदेव, एक झलक में आकर प्रकट हो जाता है। उसकी कृपा अवतरित होती है। अनन्त शान्ति के सागर की नि:शब्दता [2] दिव्य आनन्द की सर्व व्यापक लय में डूब जाती है। आत्मा की निष्क्रिय अनुभूति का स्थान भगवान की गतिशील ऊर्जा की चेतना ले लेती है जो असंख्य हाथों से असंख्य प्रकार से अनन्त क्रिया करती है। आत्म और अनात्म का, वास्तविक और अवास्तविक का गुणभेद लुप्त हो जाता है। मनुष्य समाप्त हो जाता है। दिव्य रह जाता है; भगवान के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। पदार्थ और मन, ऊर्जा और चेतना, ज्ञान और अज्ञान, पाप और पुण्य, क्रोध और लोभ, जीवन और मृत्यु चींटी और पहाड़ी: उस चेतना में सभी दिव्य हो जाता है। क्रियाशील [3] (dynamic) दिव्य, सर्वातीत

---

1. आकाँक्षा 2. खामोशी, शान्ति 3. गति से पूर्ण

सत् सभी के रूप में प्रकट हो रहा है, सब कुछ करता हुआ, सभी सुखों को भोगता हुआ और सभी क्लेशों को सहता हुआ वह फिर भी अछूता, अदूषित[1] और नित्य पूर्ण है। भागवती चेतना युक्त मानव आनन्द सागर में तैरता है; नहीं नहीं; वह स्वयं आनन्दघन हो जाता है।

प्रेम वह नया तत्व है जिसे इस निष्पत्ति[2] (consummation) का श्रेय है। अन्य सभी तत्वों की भाँति यह चेतना का प्रतिनिधि है जिसका प्रारम्भ होता है और जो क्रमशः पूर्णता तक विकसित होता है। यह दूसरे प्रत्येक तत्व से बिल्कुल भिन्न है। प्रेम के बिना भगवान की अनुभूति नहीं हो सकती। प्रेम के विकास के बिना व्यक्ति भगवान की एक झलक भी नहीं पा सकता; उसे जानना और उसमें लीन होना तो दूर रहा। जिस प्रकार रूप देखने के लिये आँखों की और शब्द सुनने के लिये कानों की आवश्यकता होती है वैसे ही भगवान को देखने और उसकी अनुभूति के लिए प्रेम का होना अनिवार्य है। प्रज्ञान से शान्ति मिलती है। प्रज्ञान व्यक्ति को प्रकृति के, निरपेक्ष सम्भूति (absolute becoming) के बन्धन से मुक्त कर सकता है। उससे आश्चर्यजनक शक्तियाँ मिल सकती हैं परन्तु सर्वातीत भगवान का दर्शन नहीं हो सकता। चरम निष्पत्ति[3] के लिए प्रेम नितान्त अनिवार्य है।

यह प्रेम कोई भावना, भावनात्मक शरीर का एक कम्पन नहीं है। वह मानव का प्रेम है जिसका क्षेत्र विस्तृत और विभिन्न प्रकार का है। मनुष्य की प्यार भावना मन की एक सीमित गति है। प्यार मानव को उदात्त बनाता है और उसे स्वतः स्फूर्त आत्मदान सिखाता है। महान बलिदान के लिये यह मनुष्य को प्रोत्साहित करता है। वह जीवन में मिठास लाता है। उसका एक और पक्ष है। वह मोहित करता है, कभी-कभी उन्मत्त[4] भी कर देता है। वह मनुष्य को अनुचित माँगों से जकड़ देता है। हताश होने पर जीवन को नष्ट कर देता है। अपनी अधोतम[5] अवस्था में मानवी प्यार एक जड़तापूर्ण मोह है जो विवेक को ढक लेता है और मनुष्य को हृदय विदारक दर्द देता है।

---

1. अकलंकित
2. माना कि ज्ञानी को स्वयं प्रेम का वरदान प्राप्त होगा और यथासमय उसे दिव्यत्व की अनुभूति होगी, परन्तु तथ्य वही है जो कहा गया है। - लेखक
3. परिपूर्ति; परिपाक, उपभोग का चरम
4. पागल
5. सबसे नीची

श्रेष्ठतम अवस्था में वह अलौकिक सुख का स्रोत है। कुछ अंशों तक वह मनुष्य की निम्नतर प्रकृति का शोधन करता है, उसे निस्स्वार्थी बनाकर उसके विकास को प्रगति देता है। परन्तु यह प्रेम, दिव्य प्रेम, बिल्कुल भिन्न कोटि का है। मानवी प्यार भावना के स्तर पर उसका प्रतिबिम्ब है।

जब भावनात्मक शरीर निर्मल हो चुकता है और उसमें निम्न स्तरीय भावनायें नहीं उठ सकतीं तब दिव्य प्रेम परिपक्व होता है। इसके प्रभाव में व्यक्ति आपे से बाहर नहीं होता, वरन् इसका पूर्ण विकास तभी होता है जब प्राण और भावनात्मक मन के ऊपर प्रज्ञान चेतना का पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। व्यक्ति के सम्पूर्ण अस्तित्व पर अमोघ[1] अधिकार रखना प्रेम का विशिष्ट लक्षण है। यह तर्क को धुँधलाता नहीं परन्तु उसकी ऊँची से ऊँची उड़ान में भी उसे सन्तुलित और संवेदनशील बनाए रखता है। मनुष्य का प्यार 'मैं' और 'मेरा' पर केन्द्रित रहता है परन्तु दिव्य प्रेम अहंकार का अतिक्रमण करता है। दिव्य प्रेम में सभी कुछ दिव्य हो जाता है। और सभी प्राणी ईश्वर के हो जाते हैं। मानुषी प्यार एक भावनात्मक कम्पन होने के कारण आता और जाता है। स्थाई हो जाने पर यह दृढ़ हो जाता है फिर भी घृणा और क्रोध इसको शिथिल करके इसका स्थान ले सकते हैं। दिव्य प्रेम एकरस[2] है। यह बढ़ता ही रहता है परन्तु कभी घटता नहीं। यहाँ कुटिलता की कल्पना तक नहीं हो सकती।

मनुष्य का प्यार कष्ट से मलिन[3] हो जाता है। यह याचना करता है और इसकी माँगें होती हैं। यह ताना मारता और विलाप करता है। यह हताश हो सकता है। दिव्य प्रेम स्वयं सुख स्वरूप है। यह आनन्द है। यह स्वयंपूर्ण और सम्पूर्ण है। यह न कोई पुरस्कार चाहता है और न सिद्धि। जी हाँ, इसे ''बाहर'' से किसी सिद्धि की तलाश नहीं होती क्योंकि जब यह जगता है तब द्वैत का अन्त हो जाता है। प्रेम और प्रभु एक हो जाते हैं और इस परम ऐक्य में जीव अपनी वैयक्तिक सत्ता खो देता है। प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम मिलकर त्रिपक्षी ऐक्य बनाते हैं, तीनों में एक समाविष्ट। प्रेम को किस पुरस्कार की आकाँक्षा हो सकती है? वह स्वयं में ही परम पुरस्कार और अनन्त उपलब्धि है। प्रेम ईश्वर है और ईश्वर प्रेम है।

---

1. जो कभी असफल न हो 2. निरन्तर, सतत, अविचल 3. दूषित

यह प्रेम अनन्त है। प्रज्ञान चेतना अनन्त है। यह अनेक एक का दर्शन करती है। प्रेम जो चेतना से श्रेष्ठ है वास्तव में अनन्त होना ही चाहिये। प्रेम अनन्त दिव्यत्व की ओर अभिमुख होता है। दिव्य प्रेमयुक्त व्यक्ति जिस ओर भी देखता है उसी अनन्त का दर्शन करता है। प्रेम के लिये दिव्य ही एकमात्र वस्तु है जिसके अतिरिक्त अन्य किसी का भी अस्तित्व नहीं। अत: अन्य वस्तुओं को छोड़कर केवल दिव्य ही इसका लक्ष्य हो सकता है। परम के अतिरिक्त कुछ और जिसका ध्येय बन सकता है वह दिव्य प्रेम नहीं है वरन् एक मानुषी भावना है।

जब दिव्य प्रेम पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है तब पीड़ा या विफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। आरम्भिक अवस्थाओं में प्रज्ञान की भाँति यह आता जाता है। इसकी आकस्मिक दीप्ति में मनुष्य क्षण भर के लिये आनन्द में विभोर हो जाता है और फिर यह प्रेम चला जाता है। मनुष्य नीचे स्तर पर उतर आता है जहाँ कुछ गवाँ देने की संवदेना होती है, दिव्य प्रेमास्पद से विछोह की। ईश्वर से मिलन की उत्कट[1] चाह उस पर अधिकार कर लेती है। वियोग की तीव्र वेदनायें होना बिल्कुल स्वाभाविक है जब तक कि दिव्य प्रेम परिपक्व होकर पूर्णता प्राप्त नहीं कर लेता। यह कष्ट मनुष्य को शुद्ध कर देता है और उसे दिव्य प्रेम की पूर्ण प्रस्फूर्ति[2] (unfoldment) के लिये तैयार कर देता है। साधना के रूप में प्रेम एक महान शक्ति है जिसकी समता कोई अन्य ज्ञात वस्तु नहीं कर सकती। प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति यह मल को भस्म कर देता है, प्रज्ञान को जाग्रत करता है और विकास[3] की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अद्‌भुत रीति से तीव्र कर देता है।

साधना के कतिपय[4] मार्ग दिव्य प्रेम की जागृति पर आधारित हैं। उनमें साधना के आकाँक्षी को विकास क्रम में उसकी स्थिति का विचार किये बिना स्वीकार कर लिया जाता है। उसमें दिव्य प्रेम की आग सुलगाई जाती है। उसकी अभीप्सा के वेग और विकास के स्तर के अनुसार प्रेम प्रफुल्लित होता है। उसके द्वारा वेगवती चैतन्य शक्ति का अवतरण होता है जिसके

---

1. तीव्र इच्छा
2. फूल के पूर्णरूपेण खिलने की भाँति
3. साधना विकास के लिये सचेतन आत्मप्रयास का पथ है। लेखक की 'Evolutionary Sadhana' नामक पुस्तक देखें।
4. कुछ

लिये सम्पूर्ण व्यवस्था को तैयार करना होता है। शोधन की तीव्र प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वियोग की गहन वेदनाओं के अतिरिक्त अन्य रूपों में भी आकाँक्षी को इस तीव्रता का मूल्य चुकाना पड़ता है।

मानुषी प्रेम दिव्य प्रेम की चिंगारी मात्र है। दिव्य प्रेम साधना क्रम में शनैः शनैः स्वयं को प्रकट कर देता है।

परिपक्व हो जाने पर प्रेम कृतार्थ हो जाता है और पीड़ा का अन्त हो जाता है। पीड़ा का बचा रहना इस बात का पक्का प्रमाण है कि प्रेम अभी पका नहीं है।

दिव्य प्रेम को प्रेम इसलिये कहा जाता है कि मानुषी प्रेम से बहुत ज्यादा भिन्न होने पर भी यह उससे इतना अधिक मिलता जुलता है। इसके अतिरिक्त इस चेतना की चिंगारी हृदय में सुलगाई जा सकती है और साधना के द्वारा उसे पूर्ण ज्वाला के रूप में धधकाया जा सकता है।

प्रेम आनन्द है; विकासशील चैतन्य-ऊर्जा का यह भावनात्मक (आनन्द) पक्ष है। प्रेम भागवती चेतना है जो यह जानती है कि सर्वातीत परमेश्वर सर्वरूप और सर्वकर्ता है। भीतर और बाहर यह ईश्वर को केवल ईश्वर को ही देखती है। इस दशा में सभी कर्मों और उत्तरदायित्वों का अन्त हो जाता है, सदाचारों और प्रतिबन्धों का अन्त हो जाता है और सभी दर्शन (philosophies) विफल हो जाते हैं। विकास-प्रक्रिया की यह चर्मोपलब्धि है। विकासशील चैतन्य-ऊर्जा का यह संज्ञानात्मक (चित्) पक्ष है। जब चिंगारी ज्वाला में प्रवेश कर जाती है तो यह ज्वाला रूप हो जाती है। लघुतर प्रकाश एकमेव प्रकाश में लय हो जाता है। प्रेमी मनुष्य को भागवती चेतना के अतिरिक्त अन्य चेतना नहीं रहती। ईश्वर सर्वज्ञ है और वैसा ही ईश्वर-लीन मनुष्य भी।

प्रभु ही एकमात्र अभिकर्ता माना जाता है सब करने वाला, सब सहने वाला। यह ईश्वर का संकल्प है जो इस विराट लीला[1] को प्रकाश में ला रहा है। मनुष्य का संकल्प इसका प्रतिबिम्ब मात्र है। अन्त में जैसे ही व्यक्ति आत्मसमपर्ण करता है और वह भगवान को स्वीकार हो जाता है वैसे ही मानवी संकल्प ईश्वरीय संकल्प में लय हो जाता है। ईश्वर ही तो मानव के

---

1. लीला-ईश्वर के पूर्णत्व से होने वाली क्रीड़ा है। - लेखक

रूप में इच्छा करता है और कर्म करता है। मानव की इच्छा ईश्वर की इच्छा बन जाती है। यह प्रेम का सत् (क्रियात्मक) पक्ष है।

यह चरम निष्पत्ति[1] उसके अस्तित्व के शेष अंशों को अछूता नहीं छोड़ती। यह व्यक्ति को भीतर बाहर पूरी तरह भर देती है। प्राण सन्तुष्ट हो जाता है, भावनात्मक मन आनन्द में हिलोरें लेता है और तर्कशील मन ईश्वर की सर्वज्ञता के प्रकाश में जीता है। प्रज्ञान-चेतना प्रेम-चेतना में लीन हो जाती है। ईश्वर धुर भौतिक शरीर तक (अन्नमय कोष तक) उतर आता है जो अब ईश्वरीय प्रकाश बिखेरने लगता है। ऊपर से लेकर भौतिक शरीर तक के अणुओं का कायाकल्प[2] हो जाता है। जड़ पदार्थ सा मालूम होता हुआ शरीर वास्तव में सघन[3] ईश्वरीय प्रकाश बन जाता है। प्रेमी मानव साक्षात् ईश्वर हो जाता है, निश्चय ही धरा पर ईश्वर, ससीम में असीम, सर्वातीत परमेश्वर की सजीव मूर्ति।

सर्वातीत परमेश्वर की चैतन्य-ऊर्जा विकास के बहुत लम्बे मार्ग पर चलते-चलते आखिर[4] अपने उद्गम पर पहुँच जाती है। यह चिंगारी के रूप में निकली थी परन्तु सूर्य के रूप में लौटी है। ससीम जो (वास्तव में) असीम ही था अनन्त बन गया है। निश्चय ही सब परिश्रम और कष्ट सार्थक हुआ। यात्रा प्रारम्भ करते समय सत् और सम्भूति का यह परमाणु लगभग अस्तित्वहीन, गुरुताहीन, अल्प मूल्य और अनुपयोगी था। यात्रा के अन्त में यह ईश्वर के सत् चित् आनन्द के रूप में प्रकट हुआ। यह अत्यन्त अद्भुत चमत्कारों में से एक है, विकास[5] के अधिष्ठाता के अनन्त कौशल का प्रमाण।

मनुष्य के ईश्वर में रूपान्तरित होने का श्रेय भागवती चेतना के आधार पर होने वाले अन्तिम पुनरेकीकरण (पुनः ईश्वर के साथ एकीकरण) को है। प्रेमी मनुष्य की स्थिति ईश्वर में होती है; वह ईश्वर में जीता है और ईश्वर उसमें जीता है, यही नहीं, वह ईश्वर का स्व (आत्म) ही है। ईश्वर

---

1. परिपूर्ति
2. जिसमें अणु अणु का नवीनीकरण, उद्धार हो जाये
3. घना, गहरा, प्रचण्ड
4. अन्ततः
5. हम यह नहीं कह सकते कि विकास-क्रम इस उपलब्धि से श्रेष्ठतर उपलब्धियाँ नहीं प्राप्त करता। हम सहज ही स्वीकार करते हैं कि हमें इसके आगे का ज्ञान नहीं है। न ही इस सम्भावना को निराधार ठहराने का हमारे पास कोई प्रमाण है। - लेखक

की भाँति वह करुणा से पूर्ण है; सबका मित्र, सबके लिये जीने वाला। वह प्रभु की भाँति कुशल है और प्रकृति का अधिपति है। वह भागवती कृपा का यन्त्र बन जाता है, निश्चय ही भगवान[1] के हाथों की लेखनी।

1. कुछ लोग प्रज्ञान को सर्वोच्च उपलब्धि बताते हैं। व्यवहार में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि प्रज्ञानी स्वत: प्रेम चेतना को प्राप्त कर लेता है। दोनों का अन्तर सूक्ष्म और अल्पकालिक है। वे लोग प्रेम-चेतना में प्रज्ञान-चेतना का समावेश कर लेते हैं। अपने अध्ययन के ढंग और समझ के कारण हम ऐसा करने को बाध्य होते हैं। - लेखक

अध्याय 14

विकास के नियम

पूर्वले पृष्ठों में हमने विकास की प्रक्रिया को मौलिक भौतिक अस्तित्व से उसकी चरम परिणति भागवती चेतना के स्तर तक पहुँचते पदचिन्हित किया है। यहाँ इस प्रक्रिया के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

विकासमान चैतन्य-ऊर्जा और उसके परिवेश के बीच होने वाली क्रिया और प्रतिक्रिया इस विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया की विशेषता है। वास्तव में, विकास की प्रगति का यही मापदण्ड है। जैसे-जैसे प्रक्रिया आगे बढ़ती है, यह पारस्परिक क्रिया अधिक गहन और अधिक विस्तृत होती जाती है। प्रत्येक नये तत्व के जागरण[1] के साथ-साथ इसका रूप भी बदलता जाता है। विकास की प्रगति के साथ इसकी गति तीव्र होती जाती है।

यह पारस्परिक क्रिया, विकास की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। चैतन्य-ऊर्जा में प्रस्फुटित[2] होने का संकल्प निहित है। उसके प्रस्फुटन में सहायता देने के लिये प्रभु आवश्यक परिवेश तथा साधनों का सृजन करते हैं। परन्तु वास्तव में यह कैसे घटित होता है? सोने को ढालने के लिये उसे गलाना पड़ता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये गेंद को लुढ़काना ही पड़ता है। विकासमान इकाई पर होने वाली परिवेश की क्रिया इसमें प्रतिक्रिया को जाग्रत करती है। यह प्रतिक्रिया करती है और परिवेश उस पर फिर आघात करता है। इकाई पुनः उस पर प्रत्याघात करती है। इस प्रकार क्रिया और प्रतिक्रिया की श्रृंखला बन जाती है। इसके फलस्वरूप विकासमान इकाई में हलचल पैदा होती है और उसमें छिपी हुई सम्भावित क्षमतायें क्रियाशील हो उठती हैं। इस प्रकार विकासमान इकाई में बढ़ोत्तरी होती रहती है जब तक कि यह आगामी तत्व के उदय के लिये तैयार न हो जाये। यह उदित होता है परिवेश और विकासमान इकाई के बीच एक नये प्रकार की अन्तःक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसमें भी धीरे-धीरे गति उत्पन्न होती है। परिवेश तथा विकासमान इकाई दोनों में आवश्यक परिवर्तन होते हैं।

---

1. क्रियाशील होने
2. फूल की भाँति खिलने का

यथासमय वे एक नये उच्चस्तरीय तत्व के प्रस्फुटन के लिए तैयार हो जाते हैं। यही कहानी बार-बार दोहराई जाती है।

जब पहले वाला तत्व पर्याप्त विकसित होकर नये तत्व के आगमन के लिये भूमि तैयार कर लेता है, तब नये तत्व का उदय होता है। अब दोनों तत्व साथ-साथ[1] विकसित होने लगते हैं। प्राणिक विकास अभी अपनी पूर्णता तक नहीं पहुँचा होता जब मन का आगमन होता है। पशुओं में हमें भावनात्मक मन की झलकियाँ मिलती हैं। मन के प्रकट होने के पश्चात् भी प्राणी में विकास[2] होता रहता है। जब यह दूसरा तत्व भली-भाँति स्थापित हो जाता है और व्यक्ति दूसरे उच्चतर तत्व के लिए तैयार हो जाता है, तब प्रज्ञान का आविर्भाव होता है। इस नये तत्व[3] के साथ-साथ पूर्वले दोनों तत्व विकसित होते चलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रक्रिया का उद्देश्य अलग-अलग किसी एक तत्व की पूर्णता नहीं है। यदि ऐसा होता तो प्राणी भावनात्मक मन के आगमन के पूर्व ही पूर्णता को प्राप्त कर लेता तथा वह भावनात्मक मन भी बुद्धि के उदय के पूर्व ही पूर्ण हो जाता और क्रम इसी प्रकार चलता। परन्तु हम जानते हैं कि ऐसा नहीं होता।

तथ्य तो यह है कि विकास प्रक्रिया का उद्देश्य किसी तत्त्व विशेष को उसके ही हित में विकसित करना नहीं है वरन् उसका उद्देश्य है चैतन्य-ऊर्जा में सन्निहित सर्वातीत परमेश्वर का पूर्ण प्रस्फुटन[4]। आवश्यकता के सिद्धान्त द्वारा इस पूरी प्रक्रिया का नियमन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक क्षण के लिये भी विकास का लक्ष्य आँख से ओझल नहीं होता। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति प्रकाश में आती है और विकसित होती है तथा पुनः ठीक इसी सिद्धान्त के अनुसार उसका बहिष्करण[5] होता है। जैवी क्षेत्र में इसके अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। शीत-प्रधान देशों में रहने वाले पशुओं के लम्बे बाल होते हैं और अधिक शीतल प्रदेशों में वृक्षों को ठण्डक से

---

1. एक वह तत्व जो पहले से था और वह जिसका नया प्रादुर्भाव हुआ है। - लेखक
2. जिसका प्राण के विकास से सम्बन्ध है। - लेखक
3. भावनात्मक मन अभी विकसित हो रहा होता है, जब बुद्धि प्रकट होती है। पुनः वह दूसरा तत्व विकास की प्रक्रिया में गुजर रहा होता है, जब प्रज्ञा जाग्रत हो जाती है। - लेखक
4. पूरी तरह खिलना, अभिव्यक्त होना
5. बाहर कर देना

बचाने के लिये मोटी पत्तियाँ होती हैं। ऊष्ण प्रदेशों में आवश्यकता न होने के कारण ये (लम्बे बाल इत्यादि) नहीं पाये जाते। पूँछ तभी तक रहती है जब तक उसकी आवश्यकता होती है। इच्छा तभी तक रहती है जब तक मनुष्य को प्रेरणा की आवश्यकता है। प्रज्ञानी के जीवन में अपना कार्य समाप्त हो जाने पर यह प्रयाण[1] कर जाती है। ऐसा ही तृष्णाओं एवं पीड़ाओं के सम्बन्ध में भी घटित होता है। किसी तत्व का विकास उसी मात्रा तक होता है जितना आगामी तत्व के आगमन के लिये आवश्यक है।

आवश्यकता का सिद्धान्त विकास की प्रक्रिया द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आन्तरिक रूप से भी आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अभाव में यह प्रक्रिया अपने मार्ग से भटक जायेगी और चरम उपलब्धि असम्भावना ही बनी रहेगी।

और भी, किसी तत्व का आगामी विकास (स्तर विशेष पर पहुँचने के उपरान्त) दूसरे तत्व के आगमन के बिना असम्भव हो जाता है। मानुषी मानसिकता के आविर्भाव के बिना हम मानव-प्राणी (human organism) के विकास की कल्पना भी नहीं कर सकते। मस्तिष्क तार्किक मन की अभिव्यक्ति के लिए बना है। कोमल और जटिल केन्द्रीय तन्तु संस्थान की उपयोगिता मानवी बुद्धि के लिए है, न कि पाशविक चेतना के लिये। प्रज्ञा का प्रादुर्भाव पशु में नहीं हो सकता और न ईश्वरीय प्रेम का किसी पौधे में।

इस प्रकार प्रत्येक नवीन तत्व के प्रकटन का नियमन एक परम[2] आवश्यकता द्वारा होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के प्रत्येक पहलू में यह सिद्धान्त लागू होता है। मानवी चेतना से कहीं अधिक श्रेष्ठ चेतना विकासीय प्रक्रियाओं का निर्देशन करती है। वह परम आवश्यकता को समझती है। अतः वह प्रत्येक कारक की इस प्रकार व्यवस्था करती है कि सर्वत्र सभी कुछ सुचारु रूप से सम्पादित होता है। मनुष्य की बुद्धि इसके क्रिया कलाप को समझने में बहुधा[3] असफल रहती है। रोग और मृत्यु की, दैन्य और कष्ट की तथा पाप और अज्ञान की आवश्यकता मनुष्य नहीं समझ पाता। अपनी सूझ को तीव्र करने तथा दृष्टि को उठाने के बजाय वह आवश्यकता के सिद्धान्त को अमान्य ठहराता[4] है, यद्यपि यह एक स्पष्ट सत्य है। ऐसा करना

---

1. चले जाना, निवृत्त हो जाना
2. बहुत ही अधिक, चरम
3. अधिकतर, बहुत बार
4. नकारता

यदि उसकी मूर्खता नहीं तो नासमझी[1] अवश्य है। प्रज्ञान चेतना के क्षेत्र में उन्नति करने के पश्चात् उसकी दृष्टि खुल जाती है। वह समझने लगता है कि आवश्यकता का सिद्धान्त बिना अपवाद के सर्वत्र लागू होता है। प्रेम चेतना में प्रवेश करने पर वह भागवती कृपा का अर्थ अनुभव करने लगता है। उसे आवश्यकता का सिद्धान्त प्रभु कृपा की अभिव्यक्ति जान पड़ने लगता है।

'समन्वय[2] का सिद्धान्त' आध्यात्मिक विकास का दूसरा सिद्धान्त है। विकास प्रक्रिया का एक लक्ष्य होता है और वह है विकासमान इकाई में भगवत्ता का पूर्ण प्राकट्य। नियमों का विकास स्वत: कोई अर्थ नहीं रखता। उनकी स्थिति और उनका विकास चरम निष्पत्ति में सहायता के लिए है। उनका विकास इसलिए होता है कि मानव में भागवती चेतना का पूर्ण विकास कराने का जो दायित्व उनको सौंपा गया है उसको सम्यक रूप से निभायें। उसके भौतिक शरीर के लिए मूलतत्वों की आवश्यकता है। प्राण को भौतिक तत्वों से उसके शरीर का निर्माण करना होता है। उसके लिये इन्द्रियों तथा इन्द्रियकरणों (sense organs) का विकास प्राण को करना पड़ता है। इसी प्रकार मन और प्रज्ञा को अपनी भूमिका निभानी पड़ती है। सम्पूर्ण प्रक्रिया, उसकी प्रत्येक गति, समन्वित भागवती जीवन की महान् अन्तिम निष्पत्ति तक मानव विकास के लिये नियोजित होती है। इस समन्वय[3] के सिद्धान्त की उत्पत्ति की ऐसी कथा है।

---

1. अज्ञानता
2. संघटन, पूर्णायोग क०
3. पौधे के जीवन के एक उदाहरण से समन्वय को उत्तम रीति से समझा जा सकता है। जब पौधा बढ़ता है तो उसकी पत्तियाँ बढ़ती हैं। उसकी शाखायें तना और जड़ें भी बढ़ती हैं। उसके रस का संचरण भी बढ़ता है। वृक्ष की ऊँचाई और मोटाई बढ़ती है। उसमें नई पत्तियाँ और शाखें निकलती हैं।

   एक क्षेत्र की वृद्धि अन्य क्षेत्रों की वृद्धि के साथ इस प्रकार मेल खाती हैं कि सम्पूर्ण प्राणी की वृद्धि में रुकावट नहीं पैदा होती। एक भाग की वृद्धि अन्य भागों की वृद्धि से इस प्रकार सन्तुलित होती है और उसकी पूरक बनती है कि पौधा एक इकाई की भाँति बढ़ता है। पौधे के हित में ही उसके अंगों की वृद्धि होती है।
   – लेखक

विकासमान इकाई की अस्मिता को कायम रखने में समन्वय की प्रक्रिया की सार्थकता है। अन्य सब कुछ उनके अधीन रहता है। समन्वय की प्रक्रिया को विकसित होने वाली इकाई के भावी रूप रुझानों के अनुकूल बनना पड़ता है। घटक तत्वों का पारस्परिक सन्तुलन और उनका पूरक होना, दोनों आवश्यक हैं। मन का आगमन होता है और प्राण अधीनता स्वीकार करता है। प्राण ऐसी अनुकूलता ग्रहण करता है कि उससे मन के भावी विकास को सभी सम्भव सहायता मिल सके। सांवेदनिक एवं केन्द्रीय तन्तु संस्थानों का निर्माण होता है। मन की आगामी सूक्ष्मतर बोधगम्यता (finer sensibility) के हितार्थ भौतिक संस्थान अधिकाधिक संवेदन शील बनाया जाता है। मन के जागरण से प्राण को प्राणी के अधिकाधिक विकास रूपी श्रेष्ठ कार्य के लिये प्रेरणा मिलती है। मन के साथ प्राण एक सम्पूर्ण एकत्व स्थापित करता है। यह मन की अधीनता अंगीकार करता है अन्यथा व्यवस्था नष्ट हो जाय और विकास असम्भव हो जाय।

प्रज्ञा के आगमन पर भी ऐसा ही होता है। भावनात्मक तथा तार्किक मन इसके आधीन हो जाते हैं। वे उस प्रज्ञान चेतना के प्रकाश में अनुकूलता ग्रहण कर लेते हैं जो अब व्यक्ति के जीवन का नया आधार बन जाती है। वे मलों से मुक्त हो जाते हैं। वे व्यक्ति की क्रियाओं का नियन्त्रण करना बन्द कर देते हैं, बल्कि स्वयं प्रज्ञान चेतना द्वारा नियन्त्रित होते हैं। तार्किक मन जो प्रारम्भ में ज्ञान का यन्त्र था, वह अब प्रज्ञान चैतन्य का और आगे चलकर प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है। इस प्रकार विकास के प्रत्येक स्तर पर विकासमान इकाई में एक मूलभूत एकता कायम रखी जाती है। जो कुछ समन्वित नहीं हो पाता वह निकाल फेंका जाता है।

चेतना में तीनों पक्ष हमेशा साथ ही साथ और एक ही सीमा तक विकसित नहीं होते। कभी संज्ञान पक्ष प्रबल होता है, कभी भावना पक्ष और कभी संकल्प ही प्रबल हो जाता है। मानुषी विकास में यह बहुत स्पष्ट है। परन्तु पारस्परिक सन्तुलन सदा ही बनता रहता है। जो पीछे छूट जाता है वह आगे बढ़ आता है और जो नेतृत्व कर रहा था वह रुक जाता है। प्रक्रिया का यह लक्ष्य नहीं है कि दूसरे पक्षों को दबाकर एक पक्ष की उन्नति हो। समग्र का विकास होना अनिवार्य है और वह भी सम्पूर्ण रूप से। माँग यह है कि पारस्परिक सन्तुलन स्थापित होता रहे। समन्वय के सिद्धान्त का यह एक और पहलू है।

विकास में निश्चल[1] ठहराव नहीं होता, परन्तु निरन्तर अविराम[2] परिवर्तन होता रहता है। इसलिए अविरल अनुकूलन की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। प्रत्येक क्षण मन विकसित होता रहता है। प्राण के लिये मन से अनुकूलन अनिवार्य है और वैसे ही स्थूलभूतों[3] के लिए भी, नहीं तो समन्वय भंग हो जाएगा। सम्पूर्ण जीवन का सन्तुलन प्रत्येक क्षण धीरे-धीरे झकझोरा जाता है और प्रत्येक क्षण उसका पुनः सृजन होता रहता है। यह अनन्त जागरूकता कितनी आश्चर्यमयी है!

अब हम बलिदान के सिद्धान्त पर आते हैं। सभी तत्वों पर प्रभुता रखने वाली बलिदान की भावना के कारण समन्वय सम्भव होता है। ''स्वार्थ से पूर्व सेवा'' ही उन सबका उद्देश्य प्रतीत होता है। सूक्ष्म भौतिक[4] जीवन जब अपनी स्वतन्त्र सत्ताओं का बलिदान करता है तभी प्राण उनको जैवी सूत्रों में संगठित कर सकता है और प्राणी जीवन की उत्पत्ति सम्भव होती है। जब सूक्ष्म भूत[5] किसी कोशिका का अंग बन जाता है तो वह अपनी मौलिक प्रवृत्ति के अनुसार काम करना बन्द कर देता है। वनस्पति में स्थित लोहा चुम्बकीय शक्ति से आकर्षित नहीं होता। हाइड्रोजन और कार्बन जब कार्बोहाइड्रेट बन जाते हैं तो अपना स्वतन्त्र व्यवहार नहीं करते।

प्राण में एक स्थायी और पूर्णतम जैवी अस्तित्व के विकास की निहित प्रेरणा रहती है। मन के प्रादुर्भाव[6] होने पर मानसिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिये प्राण शरीर को तैयार करना प्रारम्भ कर देता है। संस्थान का पुनर्गठन होता है। तन्तु संस्थान विकसित हो जाता है। सहज प्रवृत्तियों का बलिदान हो जाता है। मन के हितार्थ प्राण जीव-देह के स्थायित्व तक का बलिदान कर डालता है। इसके फलस्वरूप हम पाते हैं कि मानव-शरीर पशुओं से दुर्बल स्वास्थ्य वाला होता है।

हम देखते हैं कि वनस्पतियाँ और पौधे पशुओं के लाभ के लिये अपना जीवन बलिदान कर देते हैं अन्यथा पशु-जीवन असम्भव हो जाता। वनस्पति और पशु वर्ग इसलिए अपना बलिदान कर देते हैं कि मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव हो सके। हम मानते हैं कि यहाँ उनका सचेतन बलिदान नहीं है।

---

1. गतिहीन
2. बिना रुके, अविरल
3. भौतिक तत्वों
4. तात्त्विक, तत्वों के स्तर का
5. मूल तत्व
6. उदय, प्रकट होना

परन्तु चाहे सचेतन हो या अचेतन, इस प्रकार के बलिदान के बिना मानुषी जीवन सम्भव नहीं होता, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

बलिदान विकास का मूलभूत सिद्धान्त है। इसके बिना न जीवन सम्भव है और न ही प्रगति। यह प्रगति की कुञ्जी है। निम्नतर जीवन अपना बलिदान करता है और उच्चतर जीवन का प्रादुर्भाव होता है। निम्नतर जीवन उच्चतर जीवन का अंग बनकर उसका भागीदार हो जाता है। सूक्ष्मभूत अपनी स्वतन्त्र सत्ता का बलिदान करके शरीर का एक अंग बन जाता है। इसमें प्राण को धारण करने की क्षमता आती है और आगे चलकर मानसिक चेतना एवं प्रज्ञान चेतना की अभिव्यक्ति का यह आधार बन जाता है। इस बलिदान के फलस्वरूप इसे एक दिन प्रेम चेतना का भागीदार होने का विशेषाधिकार प्राप्त होता है। जो सूक्ष्मभूत किसी सन्त के शरीर का एक अवयव बना है, उसने चेतना के उच्चतर स्तरों से प्रभावित होना सीख लिया है। इसी प्रकार प्रभु भक्त के जीवन का अभिन्न अंग बनने वाला प्राण उसकी श्रेष्ठ चेतना में भागीदार होने का विशेष अधिकार रखता है।

अतः बलिदान एक निषेधात्मक[1] प्रक्रिया नहीं है। आत्मोत्सर्ग[2] व्यर्थ नहीं जाता। बलिदान का अर्थ है जीना और विकास करना। यह सृजनकारी प्रक्रिया है और सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। इस विशाल सृष्टि में कुछ भी अपना अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं खड़ा कर सकता। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक परमाणु एक महान् एकता में गुँथा हुआ है। लघु ब्रह्माण्ड (अणु), विराट ब्रह्माण्ड का अभिन्न अंग है जिसके जीवन में वह भागीदार है और जिस पर वह अपनी सत्ता न्यौछावर करता है। यह बलिदान है, यज्ञ है। सूक्ष्म भौतिक, प्राणिक, भावनात्मक तथा मानसिक सभी तत्व बलिदान से जीते हैं। बलिदान पर ही पारिवारिक जीवन निर्भर करता है एवं सामाजिक जीवन भी और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन भी।

अलग-थलग पड़े रहना और अपने स्वार्थ के लिये अपना जीवन बचाये रखना विनाश का आवाहन करना है। यह इस नियम की अवहेलना का प्रयास है जिसका एकमात्र दण्ड होगा अपने विकास का अन्त। ऐसा करना नितान्त स्वार्थपरता है।

---

1. ऋणात्मक (negative)
2. स्वयं का बलिदान

निम्नकोटि की जातियाँ सन्निहित[1] भगवत्ता की अन्तर्निहित प्रेरणा के बल से बलिदान करती हैं। वे बलिदान करती हैं, क्योंकि विकास के अधिष्ठाता की ऐसी इच्छा है। वे अचेतन हैं, विवेक तथा संकल्प की क्षमता से रहित। मानव को विवेक की क्षमता प्राप्त है। वह अपनी इच्छानुसार बलिदान कर सकता है अथवा अपने को रोककर रख सकता है। मानवी स्तर तक पहुँचने में विकास का कारण यह था कि विकास का अधिष्ठाता उसमें अपनी भागवती शक्ति उडेलता हुआ उसे बलपूर्वक आगे बढ़ाता जाता था। पशु अपने विकास में सहायक होने या उसमें रुकावट डालने में असमर्थ था। प्रभु हमें मानुषी स्तर तक, जो ईश्वरत्व की ड्योढ़ी है, ले आता है और हमें बुद्धि प्रदान करता है। यहाँ हम अपने विकास में सहायता कर सकते हैं अथवा कुछ सीमा तक उसमें रुकावट पैदा कर सकते हैं। हम समष्टि के लिए बलिदान कर सकते हैं और विकास की प्रक्रिया के प्रवाह के साथ तेजी से आगे बढ़ सकते हैं अथवा अज्ञान पूर्ण स्वार्थवश अपने को थामे रख सकते हैं और समस्त संसार पर छाये हुये स्वयंस्फूर्त आत्मदान के इस ज्वार को रोकने का प्रयत्न कर सकते हैं।

समाज पारस्परिक बलिदान पर आश्रित है। किसान समाज के लिये खाद्य पदार्थ उत्पन्न करता है और समाज उसे वस्त्र देता है और उसके बच्चों को पढ़ाता है। एक शिक्षक समाज के बच्चों को पढ़ाता है और समाज उसे भोजन तथा वस्त्र देता है। एक सौदागर रोज़मर्रा उपयोग की वस्तुओं के उचित वितरण में सहायता करता है और समाज उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ऊपरी तौर पर यह एक स्वार्थपूर्ण तमाशा दीखता है। परन्तु यह हमारे दृष्टिकोण का दोष है। आत्म-केन्द्रित होने के कारण हम ठीक तरह से समझ नहीं पाते। यह सब एक महान् बलिदान है जिस पर सामाजिक ढाँचा खड़ा हुआ है जो मनुष्य के विकास के लिये क्षेत्र प्रस्तुत करता है। बलिदान मनुष्य के विकास का सिद्धान्त है।

पौधों और पशुओं में जीवन के लिये संघर्ष स्पष्ट दीखता है। यह प्राण की अपने अस्तित्व को कायम रखने के संकल्प की अभिव्यक्ति है। इसके बिना जीव का अस्तित्व असम्भव हो जायगा। जैवी अस्तित्व के बिना मानसिक तत्व तथा उससे अधिक श्रेष्ठ तत्वों का विकास नहीं हो सकता।

---

1. स्वयं में निहित, आत्मनिधान किये हुये

इस प्रकार जीवन का संघर्ष भी विकास के लिये आवश्यक है।

प्राण की यह मौलिक प्रवृत्ति है। इसका क्षेत्र उन प्रजातियों तक सीमित रहता है जो दूसरी प्रजातियों के लिये खतरा उत्पन्न करती हैं। प्राण मन क अपने से श्रेष्ठ मानता है और उसके साथ संघर्ष नहीं करता। यह उसकी अधीनता स्वीकार करता है और उसके लिये त्याग[1] करता है।

जैवी जगत में "योग्यतम ही जिये" (survival of the fittest)[2] नियम लागू होता है। इससे यह विदित होता है कि समूह मानस योग्यतम प्राणी को विकसित करना चाहता है। हम देख चुके हैं कि प्राण का लक्ष्य स्थिर[3] प्राणिक जीवन का विकास करना है। इसके लिए सर्वोत्तम मार्ग चुनाव का है। मनुष्यों के हित में "योग्यतम ही जिये" का नियम निरर्थक है।

मानुषी स्तर पर प्रतिस्पर्धा[4] उन्नति करने में सहायक होती है। यह क्रिया को प्रोत्साहित करती है। इच्छा तत्व प्रतिस्पर्धा की भावना को जाग्रत करता है। इसकी प्रतिक्रियायें भी होती हैं, परन्तु वे अपरिहार्य हैं और विकास के लिए आवश्यक भी। जब मनुष्य मानसिक चेतना के ऊपर उठ जाता है और प्रज्ञान चेतना का विकास होता है, तब इच्छा निर्गमन[5] कर जाती है। प्रतिस्पर्धा की भावना भी प्रयाण[6] कर जाती है। प्रेम का सिद्धान्त सब पर राज्य करता है। प्रारम्भिक स्तरों पर हीन और श्रेष्ठ भावनायें साथ-साथ रहती हैं। मनुष्य दूसरों से स्पर्धा करता है और साथ ही उनकी सहायता भी। मनुष्य युद्ध में दूसरों को मारता है और घायल शत्रुओं की सुश्रुषा[7] भी करता है।

'संकुचित प्रक्रियाओं'[8] (compressed processes) के सिद्धान्त के फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया इतनी प्रगति कर सकी है। प्रत्येक उपक्रम या

---

1. कुछ तथाकथित वैज्ञानिक यह प्रस्ताव करने की धृष्ठता करते हैं कि मनुष्यों को पशुओं का अनुसरण करना चाहिये, अस्तित्व की रक्षा के लिए तथा योग्यतम ही जिये (Survival of the fittest) के लिए संघर्ष करने को अपना उद्देश्य मानना चाहिये। यह भयावह तथा आत्म-विनाशक सिद्धान्त मानव प्रजातियों को शोभा नहीं देता जिनमें मन का विकास हो चुका है और जो दिव्यत्व की ओर बढ़ रही हैं। - लेखक
2. योग्यतम की उत्तरजीविता (अंग्रेजी-हिन्दीकोश - कामिल बुल्के, फादर) 'सुयोग्य का बचाव'। देखिये लेखक की पुस्तक आध्यात्मिक विकास पृ. 96, सं. 1961 - सम्पादक
3. टिकाऊ
4. होड़
5. बाहर चले जाना
6. कूच कर जाना
7. सेवा
8. प्रक्रियाओं का संक्षिप्त करना

गति अपने पीछे एक छाप छोड़ जाती है जिससे हर बार उसका पुनर्जागरण[1] सरल से सरलतर होता जाता है। कोई भी कार्य जो पहली बार बहुत कठिन होता है, बाद में बहुत ही सरलता से सम्पन्न हो जाता है। एक अवस्था ऐसी आ सकती है जब अवधान[2] की बिल्कुल भी आवश्यकता न पड़े। एक प्राणी के विकास में कई युग लग जाते हैं जब वह विभिन्न प्रजातियों के स्तरों से होकर आगे बढ़ता है। बाद के स्तर में अल्पकाल में ही वह उन्नति के लम्बे क्षेत्र को पार कर जाता है। मानुषी भ्रूण विज्ञान (embryology) के अध्ययन से यह नियम स्पष्ट हो जाएगा। माता के गर्भ में अपने नौ महीने के वास में मानुषी भ्रूण अनेक रूपों की एक श्रृंखला को पार कर लेता है जिनको विकसित होने में हो सकता है लाखों वर्ष लगे हों[3]। ऐसा ही मानसिक और बौद्धिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में लागू होता है। बच्चा अपने शैशव के प्रारम्भिक वर्षों में मनुष्य के मानसिक विकास को दोहराता है। इसके बिना विकास असम्भव हो जाता।

हम हर प्रकार से पूर्वजों के कन्धों पर खड़े होते हैं। हमें विकास प्रक्रिया का समस्त अतीत उत्तराधिकार में मिलता है और जहाँ पूर्वजों ने छोड़ा था उसके आगे हम बढ़ते हैं। उनकी तुलना में हम अधिक उन्नत हो जाते हैं इस बात का श्रेय हमको नहीं है। विकास की सशक्त श्रृंखला में हम एक कड़ी मात्र हैं। श्रेय तो विकास के अधिष्ठाता को है जो हजारों वर्षों के विकास की प्रक्रिया को कुछ महीनों या वर्षों की अवधि में संक्षिप्त कर देता है।

---

1. दुबारा करना
2. सचेतन ध्यान
3. जो कुछ भी विकसित और स्थापित हो चुका है उस क्षेत्र के सदृश है जिसे किसी राजा ने जीत लिया हो और सुरक्षित कर लिया हो। वह राजा अब नये राज्यों को जीतने की ओर उन्मुख हो सकता है। उसी प्रकार जब चैतन्य ऊर्जा प्राण के माध्यम से एक सुदृढ़ (टिकाऊ) प्राणिक जीवन - की स्थापना कर चुकती है तो भावनात्मक इत्यादि मूल तत्वों के प्रस्फुटन की ओर उन्मुख होती है। इस प्रकार विकासशील चैतन्य ऊर्जा का केन्द्र बिन्दु (अर्थात चैतन्य) सदा परिवर्तनशील रहता है। जब विकास की प्रक्रिया प्राणिक स्तर पर होती है, प्राणिक चेतन स्तर होता है, और सूक्ष्म भौतिक अवचेतन स्तर। तत्पश्चात् मानसिक चेतन हो जाता है, और प्राणिक अथवा जैविक अवचेतन। इसके उपरान्त मानसिक स्तर अवचेतन बन जाता है, और प्रज्ञान स्तर चेतन। इस प्रकार हम चेतन स्तरों की मानो सीढ़ियाँ चढ़ रहे हों। - लेखक

अध्याय 15
पुनर्जन्म

खण्ड 1

जातियों (species) का विकास इस बात की अपेक्षा रखता है कि विस्मृतियों के गर्भ में विलीन होने से पहले माता-पिता अपनी सन्तान को कुछ (दायाद[1]) सौंप जायें। उत्परिवर्तनों[2] के सम्प्रेषण[3] (transmission of mutations) से विकास में की गई प्रगति को बनाये रखना सम्भव हो जाता है। जीव वैज्ञानिकों के मतानुसार जननाणु (genes) ही वंशानुक्रम के माध्यम हैं। ऐसी अवधारणा है कि सत्ता का यही अत्यन्त सूक्ष्म अणु जाति के रूप और उसकी संरचना को अपने भीतर सुरक्षित रखता है। ऐसा माना जाता है कि वट का एक सूक्ष्म बीज अपने अन्तर में उस विशाल वृक्ष को किसी रूप में छुपाये रहता है। बीज के अंकुरित होकर उससे वट के स्वरूप और संरचना के प्रगट होने का एवं वट वृक्ष के बढ़ने का श्रेय इसी बीज को है। स्पष्ट है कि यह घटनाक्रम (phenomenon) विशुद्ध रूप से भौतिक नहीं है। यह एक शारीरिक अर्थात् प्राणिक घटनाक्रम है।

यह समूह-मानस है जो जाति की इकाइयों की पृष्ठ भूमि में विकास कर रहा है। यह विकास उन अनुभवों के द्वारा होता है जिसे समूह मानस ने अपने एकाकी अंशों के माध्यम से प्राप्त किया है। वास्तव में उत्परिवर्तन तो समूह-मानस में घटित होते हैं जो जाति की इकाइयों द्वारा अपने को व्यक्त करता है। ऐसी क्रिया मानुषी स्तर के पूर्व तक होती है। वास्तव में भौतिक स्तर[4] पर उत्परिवर्तनों के सम्प्रेषण (transmission of mutations) का प्रश्न नहीं उठता। तथ्य यह है कि समूह-मानस बार-बार अपनी इकाइयों में जन्म लेता है और विकसित होता जाता है। जननाणु (gene) भौतिक स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति की इकाई मात्र है।

---

1. बच्चों को माता-पिता से मिलने वाली सम्पत्ति, गुण इत्यादि
2. अवयवी के भीतर होने वाले परिवर्तन
3. आगे भेजना, हस्तान्तरित करना
4. पार्शविक और पूर्व-पार्शविक स्तर पर पुनर्जन्म का यही अर्थ है। - लेखक

मानुषी स्तर पर पहुँचने पर समूह-मानव का स्थान प्राणिक प्रतिच्छाया ले लेती है जो प्रत्येक देह के अन्दर स्थित होती है। इसी पर भौतिक शरीर के निर्माण का, उसके स्वरूप, संरचना और क्रियाओं का दायित्व रहता है। इसका मुख्य कार्य शरीर को चलाना है जो जीवात्मा के अनुभवों का माध्यम है। जो व्यक्ति की अधिष्ठात्री [1] (व्यक्ति के अन्दर रहने वाली) चेतना है। यह अपने अन्दर भौतिक शरीर के कर्म [2] को संचित किये रहता है और आयु की वृद्धि के साथ शारीरिक अवस्थाओं (रोग, दु:ख, स्वास्थ्य इत्यादि) के रूप में स्वयं को फिल्म की भाँति खोलता जाता है। जिस प्रकार समूह-मानस जाति की इकाइयों द्वारा प्रकाश में आता है उसी प्रकार प्राणिक प्रतिच्छाया (ethnic double) अपनी अभिव्यक्ति भौतिक माध्यम से करती है।

भौतिक शरीर के पीछे कारण (तारकित) शरीर है। यह भी भौतिक के अनुरूप है। यह मनुष्य के भावनात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति का माध्यम है जो प्राणिक और भौतिक शरीरों द्वारा और अधिक अभिव्यक्त होता है। मनोमय शरीर भी, जो और भी सूक्ष्मतर है प्राणिक एवं भौतिक शरीरों का उपयोग अपनी अभिव्यक्ति के लिये करता है। इन चारों के पीछे विज्ञानमय शरीर है जो सबसे अधिक सूक्ष्म है और सर्वाधिक सशक्त भी। परन्तु इसका विकास केवल उस व्यक्ति में होता है जिसमें प्रज्ञान चेतना विकसित हो चुकी होती है। जीवात्मा, जो चैतन्य-ऊर्जा की इकाई है, इन सभी में से आलोकित होता है और चिरस्थाई है।

चैतन्य-ऊर्जा अपनी निहित क्षमताओं के विकास और अभिव्यक्ति के लिये इन तत्वों को विकसित करती है। इसकी स्थिति उनके ऊपर है और अभिव्यक्ति एवं अनुभव के इन माध्यमों का यह उपयोग करती है। यह अनुभव से सीखती है और प्रस्फुटित [3] होती है। जिस प्रकार समूह-मानस अपनी जातियों की इकाइयों का उपयोग अपने अनुभव और विकास के लिये करता है वैसे ही जीवात्मा विभिन्न शरीरों को अनुभव और विकास के लिये

---

1. शासन करने वाली
2. अविकसित (सम्भावित) शक्तियाँ जो व्यक्ति के भौतिक स्तर पर पुनर्जन्म के लिये जिम्मेदार हैं। - लेखक
3. फूल की तरह खिलती है, विकसित होती है।

उपयोग में लाता है। जैसे कि अनुभव समूह-मानस में संचित होता है न कि नष्ट होने वाली इकाइयों में, वैसे ही अनुभव शरीरों में संचित नहीं होता वरन् जीवात्मा में संचित होता है जो उनका अधिपति है और उनका उपयोग करता है। जीव के विकास के लिये अनुभव का यह संचय आवश्यक है।

ये शरीर नष्ट हो जाते हैं। जब और अधिक अनुभव के लिये भौतिक शरीर की उपयोगिता समाप्त हो जाती है तो जीव उसे त्याग देता है। आयु के साथ जर्जरता [1] को प्राप्त शरीर निरर्थक हो जाता है। प्राणिक शरीर (etheric double) भौतिक शरीर से अलग हो जाता है। भौतिक ढाँचा लकड़ी के कुन्दे के समान रह जाता है। वह सड़ने लगता है। बोलचाल की भाषा में [2] उसे मुर्दा अथवा मृत शरीर कहते हैं।

विकास में भौतिक स्तर का महत्व समझना हमारे लिये आवश्यक है। यह जीवन का महत्तम स्तर है अत: इस पर प्रभावी ढंग से क्रिया के लिये महत् बल की आवश्यकता पड़ती है। विचार और भावनायें अधिक सूक्ष्म होती हैं [3] और अधिक सरलता से उनको पैदा किया जा सकता है। जितना अधिक बल प्रयोग किया जाता है उतनी ही अधिक प्रतिक्रिया होती है। इसलिये भौतिक क्रिया का और उसी प्रकार भौतिक अनुभव का प्रभाव विकास के लिये सर्वाधिक दूरगामी होता है। इस दृष्टि से भौतिक स्तर सबसे अधिक गतिमान स्तर होता है और विकास के लिये किसी अवस्था तक अपरिहार्य [4] है। साधारणतया इस स्तर पर क्रिया केवल भौतिक शरीर के द्वारा सम्भव होती है। अत: जब एक शरीर त्यागा जाता है तो यदि जीव को विकसित होना है तो दूसरे शरीर की आवश्यकता पड़ती है।

जैसे-जैसे भौतिक शरीर बारी-बारी से निरर्थक होते जाते हैं जीव एक के बाद दूसरे भौतिक शरीरों से अपने को सज्जित करता जाता है तब तक जब तक कि इसे भौतिक स्तर का अनुभव अनावश्यक न हो जाये। इसे जीव

---

1. बुढ़ापे के कारण दुर्बल, कृश हुआ
2. अल्प आयु में मरने वालों तथा मार डाले गये व्यक्तियों का मामला भिन्न है। कदाचित विकास की आवश्यकता की यह माँग है कि परिवेश में आकस्मिक परिवर्तन हो। कभी-कभी कार्मिक प्रभाव इस प्रकार के अनायास प्रयाण के लिये उत्तरदायी हैं। - लेखक
3. जो वास्तव में समूह मानस का ही विकास है। - लेखक
4. जिसके बिना काम न चल सके

का पुनर्जन्म कहते हैं। जिस प्रकार समूह-मानस की अपनी इकाइयों के द्वारा बार-बार अभिव्यक्ति के बिना किसी जाति का विकास असम्भव है उसी प्रकार बार-बार अनुभव प्राप्ति के लिये भौतिक शरीरों में पुनर्जन्म के बिना मानुषी जीव का विकास असम्भव है।[1]

इन सभी अभिव्यक्तियों में से होते हुए भी जीव अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखता है। वास्तव में ये अभिव्यक्तियाँ जीव के हितार्थ ही हैं। जीव में परिवर्तन का तो प्रश्न ही नहीं है। जीव एक अविकल[2] (immutable) तत्व है जो सदा था और सदा रहेगा।

पुनर्जन्म का क्या प्रमाण है? स्मृति। अतीत के भौतिक जीवन की चेतना सिद्ध कर सकती है कि वर्तमान भौतिक शरीर में निवास करने वाली चैतन्य-ऊर्जा (अर्थात जीवात्मा) कुछ समय पूर्व भिन्न थी। बीते हुए जीवन काल की स्मृतियों का प्रचुर प्रामाणिक साक्ष्य केवल भारत में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी प्राप्त है। इस साक्ष्य को नकारना (अस्वीकारता) विवेकहीनता है।

कतिपय यौगिक क्रियाओं द्वारा हम ऐसी दृष्टि विकसित कर सकते हैं जो एक जीवन से दूसरे जीवन तक फैले हुए कर्म के सूत्र का पता लगा सकती है। यह कार्य सरल नहीं है और इसके लिए बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है। परन्तु इस प्रकार की सम्भावना होते हुए हम पुनर्जन्म के तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते जो इससे प्रमाणित होता है।

मानवीय विकास के लिए पुनर्जन्म नितान्त आवश्यक है। जो कुछ भी हम एक जीवन में सीख सकते हैं सीमित ही होगा। यदि इस शरीर के साथ ही यह सीखा हुआ समाप्त हो जाना है तो इस एकान्तिक जीवन का कोई अर्थ न हुआ। इसका अर्थ हुआ कि 'विकास' भी निरर्थक है। हमारी सत्ता निरुद्देश्य एवं अव्यवस्थित है, केवलमात्र प्रकृति का अटपटा खेल, जिसे हम नहीं समझते।

---

1. हम पहले ही देख चुके हैं कि व्यक्ति और परिवेश के बीच की पारस्परिक क्रिया विकास के लिये अपरिहार्य है।

   इस सम्बन्ध में अंग्रजी का यह मुहाबरा कि "शरीर ने प्राण त्याग दिये", भ्रमात्मक है। वस्तुत: जीव शरीर को त्यागता है न कि शरीर जीव को। - लेखक

2. अविकल, एक सार रहने वाला, अपरिवर्तनीय

परन्तु यह आपत्ति उठ सकती है कि "हमें अपने अतीत के जीवनों का स्मरण नहीं है।" मानुषी स्मृति का क्षेत्र बहुत सीमित है। अपने बालकपन की हमें बहुत थोड़ी स्मृति रहती है। इसमें आश्चर्य ही क्या कि हम इस जन्म के पूर्व जीवन के विषय में सब कुछ भूल जाते हैं।

यह उचित ही है कि पूर्व जन्मों की स्मृति बनी नहीं रहती। यदि हमें स्मरण रहता तो हम अपनी चेतना वर्तमान में आविष्ट न कर पाते और न इतनी उत्तमता से कार्य कर सकते। क्या ऐसा व्यक्ति जिसके अनेक माता-पिता और बच्चे उसके मस्तिष्क में चक्कर लगाते रहते हों और वास्तव में उससे चिपके रहते हों किसी को प्यार दे सकता है या किसी के लिये जी सकता है।[1] उस अवस्था में जीवन इतना जटिल हो जायेगा कि विकास का उद्देश्य फलीभूत नहीं हो सकेगा। स्मृति के विस्तार पक्ष में जो हानि होती है उतना उसकी गहराई में और सामान्य चेतना में लाभ हो जाता है। अपनी वर्तमान समस्याओं के समाधान में अपनी शक्तियों को पूरी तरह लगाते हुए हम वर्तमान काल में पूर्णरूपेण जी सकते हैं। उन्नति के मार्ग में ऐसे कार्यकलाप और ऐसे जीवन का बड़ा महत्व है।

पूर्व जन्म की स्मृति बने रहना वास्तव में एक अपवाद[2] है। अब हम पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर आते हैं। भौतिक शरीर त्यागने के पश्चात् चैतन्य-ऊर्जा के साथ प्राणमय, काममय और मनोमय शरीर जुड़े रहते हैं।[3] भौतिक शरीर सभी अनुभवों की, भावनात्मक और मानसिक की भी धुरी था। यह विकास प्रक्रिया का मुख्य आधार[4] (plank) था। जब यह छूट गया तो नये शरीर की आवश्यकता हुई। नये शरीर के निर्माण में वर्तमान जीवन के अनुभवों का उपयोग अनिवार्य है अन्यथा यह जीवन व्यर्थ ही गया समझा जायेगा। अनुभव सभी स्तरों के होते हैं - प्राणमय, काममय और मनोमय के। अत: वर्तमान जीवन के अनुभवों को आत्मसात करते हुए उनके अनुरूप नये शरीरों का निर्मित होना भी आवश्यक है। अत: सभी शरीरों के नवीकरण की

---

1. ऐसी घटनायें यथार्थ में हुई हैं। - लेखक
2. नियम की उलंघना करने वाला उदाहरण
3. हम उस मनुष्य का उदाहरण लेंगे जो अभी विकास के मानवीय स्तर पर है। - लेखक
4. फलक (plank) उचित नहीं लगता; यहाँ इसका अर्थ आधार उचित प्रतीत होता है। - सम्पादक

आवश्यकता उत्पन्न होती है और यह तभी सम्भव होता है जब पुराने शरीर छूट जाते हैं।

अत: भौतिक शरीर के बाद यथा समय प्राणिक शरीर (वायवी प्रतिच्छाया) की मृत्यु होती है। इन दोनों शरीरों के क्षय होने के बीच का अन्तर कितना हो, यह कई कारणों पर निर्भर करता है।[1] वायवी प्रतिच्छाया अन्य शरीरों से विमुक्त होकर और जीव से भी अलग होकर भौतिक शरीर की भाँति विलीन हो जाती है। उसके उपरान्त काममय और मनोमय शरीरों का क्रम से वैसा ही अन्त होता है। जीव जो इन सभी शरीरों के अनुभवों का भण्डार है बचा रहता है। वह इस जीवन पर्यन्त भौतिक परिवेश में कठिन परिश्रम करता रहा है। और अब सुअर्जित अवकाश ग्रहण करता है। अवकाश की अवधि विकास की आवश्यकता के अनुसार छोटी बड़ी होती है। इस अवकाश के समय में पूर्व जीवन के अनुभव पचाये जाते हैं। उसके अन्त में एक नये व्यक्तित्व का आगमन होता है (बीज रूप में)[2] जो अन्तर्वर्ती शरीरों के माध्यम से भौतिक रूप में प्रकट होता है।

यह कारण शरीर अपने आसपास मानसिक द्रव्य इकट्ठा करता है और नये व्यक्तित्व के ढाँचे के अनुरूप मनोमय शरीर का निर्माण होता है। उसके बाद उसी प्रकार काममय शरीर बनता है और फिर वायवी प्रतिच्छाया प्राणिक स्तर पर व्यक्तित्व को पूरा करती है और तब वह भौतिक स्तर पर अवतरण के लिए तैयार हो जाता है।

भौतिक शरीर के निर्माण के लिये एक जोड़े की आवश्यकता होती है। यह जोड़ा उपयुक्त प्रकार का और उसकी कार्मिक सीमाओं के अन्दर होना चाहिए। ऐसा जोड़ा सदा तुरन्त नहीं मिल पाता और प्रत्याशी[3] (prospective) जीवात्मा को प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। जब अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं गर्भ ठहर जाता है। और तब आगन्तुक[4] जीवात्मा[5] की

---

1. जीव की पार्थिव इच्छायें, भौतिक संस्कारों के बचे हुए (आभुक्त) अंश इत्यादि।
2. यह सब विकासमान जीव के हित में विकास करने वाले साधनों द्वारा सम्पन्न होती है। - लेखक
3. जिसे जन्म लेना है और प्रतीक्षारत है
4. आने वाला
5. कार्मिक स्रोत (अभिकर्ता) जिनको इसका दायित्व सौंपा जाता है परिस्थितियों का निर्णय करते हैं। वे व्यक्ति की कार्मिक शक्तियों का उपयोग करते हैं। - लेखक

देख-रेख में भ्रूण बढ़ता है। जीव और शरीर के बीच की स्थाई कड़ी कुछ समय बाद तैयार होती है। इस वार्ता का शेष भाग सबको भली-भाँति विदित है।

जब जीव पुनर्जन्म के लिए तैयार हो जाता है परन्तु उसके लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं होतीं तो उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वह कभी-कभी अल्पकालिक[1] जन्म लेता है जिससे कुछ उसके अपने कर्मों और कुछ उसके अल्पकालिक माता-पिता के कर्मों का क्षय हो सके[2]। शैशव या बालकपन में ही यह शरीर छोड़ दिया जाता है। शिशुओं या बालकों की मृत्यु का यही रहस्य है। ये अल्पकालिक जन्म के उदाहरण हैं जिनका उद्देश्य अनुभव और विकास के लिए पूरा जीवन जीना नहीं था।

खण्ड 2

अब हम पुनर्जन्म से उत्पन्न होने वाले कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर और कर्म के सिद्धान्त के साथ इसके सम्बन्ध पर विचार करेंगे।

यह बताया जा चुका है कि कुछ व्यक्तियों को पूर्वजन्म की स्मृति रहती है। ऐसी घटनाएँ इस तथ्य की प्रमाण हैं कि वर्तमान जन्म का मनोमय शरीर वही है जो पूर्वजन्म में था। उसमें स्मृति संचित रहती है। यदि मनोमय शरीर नया होता तो उसमें स्मृति वर्तमान न होती। ऐसा उन स्थितियों में होता है जिनमें मृत्यु के तुरन्त बाद जन्म हो जाता है। वस्तुतः ऐसा जन्म पूर्वजन्म का क्रम बनाये रखता है। व्यक्तित्व वही बना रहता है और पूर्वजन्म के अनुभव आत्मसात नहीं हो पाते। यह साधारणतया तब होता है जब सांसारिक राग[3] बहुत प्रबल होते हैं।[4] शैशव के साथ ही ऐसी स्मृतियाँ समाप्त हो जाती हैं क्योंकि यह पिंगला (अनुसंवेदी) नाड़ी मण्डल से जुड़ी रहती है जिस पर शैशव की समाप्ति के साथ केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का अधिमान हो जाता है।

---

1. थोड़े समय के लिए
2. अध्याय 16, कर्म भी देखिये - लेखक
3. आसक्तियाँ, मोह
4. अथवा किसी साधक के विषय में जिसके भावी विकास के लिए अविलम्ब पूर्ण परिवर्तन की माँग हो।

"हमें अपने पूर्वजन्म के कर्मों का स्मरण नहीं रहता। उनके फल हमें वर्तमान जीवन में भोगने पड़ते हैं। कष्ट के समय हम नहीं जान सकते कि किन कर्मों का फल हम भोगते हैं और न सुख के समय ही यह जान पाते हैं। हम अपना सुधार कैसे कर सकते हैं? यह कैसा न्याय है जो बिना हमारे गुण और दोष बताए हमें दण्ड या इनाम देता है? यह आपत्ति साधारणतया बहुत बार उठाई जाती है।

यह आपत्ति विकास की प्रक्रिया का अज्ञान प्रकट करती है। अतिमानुषी स्तर तक बढ़ने के लिए मनुष्य को शुभ और अशुभ एवं सुखमय और दु:खमय सभी अनुभवों में प्रवेश करना पड़ता है। उस अतिमानुषी स्तर पर पहुँचकर मनुष्य शुभ और अशुभ एवं सुख और दु:ख से परे हो जाता है। विकास [1] का उद्देश्य ऐसा मानव-निर्माण करना नहीं है जो पाप नहीं करता वरन् ऐसा मनुष्य बनाना है जो पाप और पुण्य के परे हो। [2] यदि विकास का उद्देश्य सज्जन बनाना होता तो हमारे लिये पाप और पुण्य का ज्ञान आवश्यक होता। [3] परन्तु मनुष्य का विकास यह माँग अवश्य करता है कि उसे शुभ और अशुभ की समझ हो जो इस स्मृति के अभाव में भी विकसित हो जाती है। दुष्कर्म बुरा इसलिए है कि कर्त्ता इस कर्म से स्वयं अपने को दु:खी कर लेता है। बाहर से प्रतिक्रिया बहुत समय बाद होती है। हमें यह सीखना है कि दुष्कर्म बुरा है क्योंकि वह विकास के नियम, प्रभु के संकल्प के विपरीत [4] है। इसी कारण हमें इससे बचना है चाहे बाहर से इसका फल सुखकर हो। दुष्कर्म के प्रति इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि जगे बिना मनुष्य वास्तव में नीति परायण[5] नहीं हो सकता [6]। लालच या धमकी के कारण हो

---

1. इसका उद्देश्य भागवत व्यक्ति का निर्माण करना है जो पूर्ण शुभ का पुँज है परन्तु उसकी निर्मलता वास्तव में तथाकथित शुभ और अशुभ के परे होती है। – लेखक
2. पिछला अध्याय 12 देखें। – लेखक
3. यदि मनुष्य भूल न करे तो उसकी उन्नति नहीं हो सकती। पाप और भूल और उनकी प्रतिमूर्तियाँ भी विकास के लिए आवश्यक हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम जानबूझ कर पाप और भूल करें। – लेखक
4. उल्ट
5. नैतिक, सदाचारी
6. इससे पहले कि हम नैतिकता का अतिक्रमण कर सकें और अधिमानव बन सकें, हमें नीतिवान बनना होगा। – लेखक

तो हो। इस दृष्टिकोण से पाप और दण्ड के समन्वय[1] (correlation) का ज्ञान व्यर्थ है।[2]

इसके अतिरिक्त यह समन्वय इतना सरल भी नहीं है जितना माना जाता है। किसी कर्म का फल कई किश्तों में, कई प्रकार से और भिन्न-भिन्न कालों में मिल सकता है। कर्म के सूत्रों का पता लगाना इतना सरल नहीं है।

विकास-क्रम में हम पशु से मानुषी स्तर पर आते हैं। क्या हम कुकर्म करके या और किसी तरह पशु योनि में वापस जा सकते हैं। यह प्रश्न विचारने में रोचक है।

ऐसा सामान्य विश्वास है कि यदि हम वर्तमान जीवन में शुभ कर्म न करें और बहुत बुरे कर्म करें तो हम अगले जन्म में पशु योनि - कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा इत्यादि में पैदा होंगे। यदि हम किसी पशु को यातना दें तो अगले किसी जन्म में वह हमें यातना देगा। हम लोगों की स्थिति आपस में बदल जाएगी। हाँकने वाला स्वयं हाँका जाएगा और इसके नितान्त विपरीत भी होगा।

पशु योनि में वापस जाने से हमारा कौन सा अर्थ सिद्ध हो सकता है? यदि वापस लौटने का मतलब किसी व्यक्ति को उदाहरण स्वरूप दण्ड देकर उसे शिक्षा देना है तो यह निष्प्रभावी[3] है।

कोई व्यक्ति पशु योनि में दो प्रकार से लौट सकता है। वह विकास मार्ग में पीछे फेंक दिया जाए और समूह मानस में एक पशु मात्र बन जाए जैसा कि वह कदाचित वर्षों पूर्व अपने विकास के पथ पर था। उस अवस्था में उसमें मनुष्य जीवन की अपेक्षा संवेदनशीलता बहुत कम होगी। इसका अर्थ यह है कि जितनी तीव्रता से वह मनुष्य जीवन में कष्ट का अनुभव कर सकता था उतना अब नहीं कर सकेगा। अत: उसके लिए यह दण्ड उदाहरण स्वरूप नहीं होगा।

चूँकि पशु योनि में सचेतन इच्छा शक्ति नहीं होती, अत: उसको फिर विकसित करके मानुषी स्तर पर लाने का दायित्व पूर्णरूप से विकास की अधिष्ठात्री शक्तियों पर होगा। उन्हें अपना काम दुबारा करना पड़ेगा। अत: यह दण्ड उन्हीं पर पड़ेगा न कि उस व्यक्ति पर।

---

1. परस्पर सम्बन्ध
2. देखिये अध्याय 16
3. असरहीन, बेकार

दूसरी सम्भावना यह है कि मनुष्य अपनी वायवी प्रतिच्छाया तक जैसा था वैसा बना रहे और केवल पशु का भौतिक रूप ले ले। इस अवस्था में भी पशु की भौतिक देह मनुष्य की वायवी प्रतिच्छाया द्वारा क्रियाशील नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों एक दूसरे से इतने भिन्न हैं। केवल यह सम्भावना रह जाती है कि मनुष्य अपनी वायवी प्रतिच्छाया में, जैसा का तैसा, एक पशु से संयुक्त हो जाए। वह उसके भौतिक और भावनात्मक जीवन में भागीदार बन जाए। यह सम्भव है कि ऐसा मनुष्य अतिशय लगाव के कारण मनुष्य का चोला रखते हुए भी एक नितान्त पाशविक मानस पा जाए। एक बड़े सन्त जड़भरत का ऐतिहासिक उदाहरण है जो हिरण के मोह के कारण हिरण बन गये थे। यह घटना अल्पकालिक होती है। यह भूताधिग्रहण[1] का उदाहरण नहीं है बल्कि उससे कुछ मिलता-जुलता है। जैसे ही मोह का बल समाप्त हो जाता है वैसे ही मनुष्य अपने पूर्व विकास के मार्ग पर वापस आ जाता है।

सो, पशु योनि में वापस जाने की केवल इस प्रकार की सम्भावना है। किसी कार्मिक संस्कार को क्षय कराने की यह अल्पकालिक व्यवस्था है। तीव्र मोह या किसी पाशविक वासना के सन्दर्भ में ऐसा हो सकता है। दूसरी दशा में जैसे ही वासना क्षय होकर मानुषी स्तर पर आ जाती है, मनुष्य को छुटकारा मिल जाता है।

कर्म क्षीण करने के लिए सन्निधान की विधि[2] भी बहुत समझ में आने वाली नहीं जान पड़ती। यदि मनुष्य और पशु में व्यक्तिगत द्वेष हो तो इसमें कुछ अर्थ हो सकता है। पशु में न तो इतना विकास हुआ होता है और न उसका सचेतन संकल्प इतना जाग्रत होता है कि वह बहुत समय तक द्वेष बनाए रखे। जहाँ यह सम्भव हो जाता है पशु बहुत शीघ्र मनुष्य जगत् में पहुँच जाता है। तब मनुष्य की पशु जगत् में वापसी के बिना दोनों अपना हिसाब चुकता कर सकते हैं।

कर्म क्षीण करने की एक सन्निधान की विधि है परन्तु वह बहुत भिन्न है। मृत्यु के बाद जब जीव तारकित स्तर पर रहता है तब उसके अतीत के दृश्य जल्दी-जल्दी एक-एक करके उसकी दृष्टि के सामने आते हैं। वह

---

1. भूत द्वारा शरीर का हथिया लेना
2. पास पास रखने का तरीका

अपना जीवन दोबारा जीने लगता है। परन्तु अन्तर यह होता है कि वह प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्ताओं के साथ अभिन्नता का अनुभव करता है। उसमें वही संवेदन होता है जैसा किसी दूसरे को यातना देते समय हुआ था, साथ ही वह उस यातना का भी अनुभव करता है जो उसके शिकार ने भोगी थी। वह दूसरे के कष्ट को अनुभव करता है। यह प्रक्रिया कुछ अंश तक उसके कर्म को क्षीण करती है।

एक बात और भी विचारणीय है। हम देखते हैं कि अधिक पूतमन[1] व्यक्ति भौतिक या सामाजिक कष्ट सहते हैं और इसके विपरीत बुरे लोगों के बहुत अच्छे शरीर हैं और जीवन में उनकी स्थिति अच्छी है। यह कर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध जान पड़ता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हमें अतीत को भी गणना[2] में लेना है। एक व्यक्ति जिसने पूर्व जीवन में बुरा किया है परन्तु अपनी नासमझी का अनुभव करके अपने तरीके बदल दिए हैं, अवश्य इस जीवन में कष्ट पाएगा। उसे अपने बुरे कर्मों का मूल्य चुकाना होगा। वह ऐसा भगुतान कर रहा है। परन्तु चूँकि उसने अपनी भूलें अनुभव की हैं वह अब सत्कर्म कर रहा है। दूसरा उदाहरण ठीक इसका उल्टा है। वह सज्जन था और अब अपनी अच्छाई का फल भोग रहा है। उसने अच्छाई का मूल्य नहीं समझा, वह धन की शक्ति से मतवाला हो गया है, इत्यादि और बुरे रास्ते पर जा रहा है। अनुभव से ही शिक्षा मिलती है। यही उसे भी किसी दिन सीख देगा।

पुनर्जन्म का कर्म के सिद्धान्त से घनिष्ट सम्बन्ध है। अब हम उस पर विचार करेंगे।

1. धर्मनिष्ठ, पवित्र मन वाले
2. गिनती में, महत्त्व देना

अध्याय 16
कर्म

खण्ड 1

विकास की दृष्टि से सभी क्रियायें कर्म कहलाती हैं। इस पारिभाषिक शब्द के अर्न्तगत क्रिया का अधिक से अधिक सम्भव विस्तार आ जाता है। आगामी पृष्ठों में हम इसके स्वरूप का अध्ययन करेंगे। विकास प्रक्रिया के सन्दर्भ में एक (खनिज) जगत से दूसरे (वनस्पति/पशु/मनुष्य) जगत तक इसका अनुशीलन करेंगे। हम उस महान् सिद्धान्त (कर्म के सिद्धान्त) का अध्ययन करेंगे जो इसका नियामक है।

अपने उद्भव स्थान[1] पर कर्म एक मौलिक प्रवृत्ति है। कर्म का स्रोत वह आद्य[2] आवेग है जिससे सृष्टि का चक्र चलना प्रारम्भ हो जाता है। यह एकमेव ईश्वर के अनेक हो जाने की प्रेरणा है। यह ईश्वरीय संकल्प है जो सर्वातीत सत्ता के दो भावों, निरपेक्ष सत् और निरपेक्ष सम्भूति की पारस्परिक क्रिया में गति उत्पन्न करता है।[3] विकास की क्रिया चालू होती है। एकमेव अद्वितीय से अपनी अनन्त विविधता से युक्त एक विशाल सृष्टि का जन्म होता है। कर्म के द्वारा ही ऐसा होता है।

विकास में तीव्रता आने के साथ ही सर्वातीत सत्ता के दोनों पक्षों की पारस्परिक क्रिया में वृद्धि होती है। एक अवस्था आती है जब सत्ता के अविभेद्य पुन्ज से आत्मचेतना युक्त ऊर्जा की विकासशील इकाई निकलती है। तब व्यक्ति और उसके परिवेश का अन्तर ज्ञात होने लगता है। सूक्ष्म भौतिक स्तर पर जीवन का विकास होता है। कर्म सूक्ष्म भूतों और उनके परिवेश के बीच होने वाली क्रिया प्रतिक्रिया का रूप ग्रहण करता है। उस स्तर पर ऊर्जा की अनेक अभिव्यक्तियाँ जैसे ताप, प्रकाश, बिजली इत्यादि कर्म के ही रूप हैं। यह पारस्परिक क्रिया सूक्ष्म भूतों को उत्तेजित करके गतिशील बनाती है। स्वभावत: जिसके फलस्वरूप शक्तियों में जटिलता उत्पन्न होती है। निरन्तर परिवर्तन-शील वायुमण्डल में प्रकाश, जल, ताप

---

1. स्त्रोत
2. आदि, प्रारम्भिक
3. अध्याय 2 का अवलोकन करें - लेखक

और बिजली के अद्‌भुत प्रदर्शन द्वारा प्रकृति कर्म की इस अवस्था का प्रमाण देती है।

हमें याद रखना होगा कि किसी भी स्तर पर कर्म विकासमान चैतन्य ऊर्जा की अभिव्यक्ति है और यह व्यक्ति तथा उसके परिवेश के बीच पारस्परिक क्रिया का प्रकटन है। इसका दोहरा प्रभाव होता है। कर्म व्यक्ति पर प्रतिक्रिया करता है और परिवेश पर क्रिया करता हुआ यह प्रतिक्रिया को प्रेरित करता है जो फिर व्यक्ति के पास लौट आती है। हमें कर्म के इन दोनों पक्षों का अध्ययन करना होगा।

प्रत्येक कार्य व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन का फल है वह चाहे अस्थाई ही हो। दूसरे को मारने के लिए हमें हाथ उठाना पड़ता है। दूसरे को प्यार करने के लिए हमारे अन्दर प्रेम का स्पन्दन होना आवश्यक है और घृणा करने के लिए घृणा का। यह परिर्वतन अस्थाई होने पर भी अपनी छाप छोड़े बिना नहीं जाता। बार-बार दोहराने से आदत बन जाती है, या नया कार्य करने की क्षमता आ जाती है। इसका प्रभाव दीर्घकालीन हो सकता है। समुचित उपयोग से लेखनी सुधर जाती है और तार वाला बाजा भी। अभ्यास के द्वारा एक गायक अपना गला माँज लेता है। सन्तुलित व्यायाम से माँस पेशियाँ अधिक सशक्त हो जाती हैं। इसे हम कर्म का फल या उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया कहेंगे। इससे बच निकलना सम्भव नहीं। प्रत्येक क्षण अपने कर्मों से हम अपना पुनर्निमाण कर रहे हैं। विकासशील बल के रूप में कर्म का यह एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

कर्म के द्वारा व्यक्ति अपने परिवेश पर प्रभाव डालता है। परिवेश की भी प्रतिक्रिया होती है। यह प्रतिक्रिया व्यक्ति के पास लौटकर उसको प्रभावित करती है और अपने विशिष्ट वेग से उसमें कम्पन उत्पन्न करती है। पानी में खड़ा व्यक्ति पानी पर चोट करता है। पानी चलकर किनारे से टकराता है। किनारा प्रतिक्रिया करता है और वापसी लहर जाकर व्यक्ति को धक्का देती है। एक व्यक्ति धरती पर पैर पटकता है और धरती उलटकर उस पर उतने जोर से चोट लगाती है। यह उसके कर्म का बाहरी फल है। हम इसे कर्म का परोक्ष प्रभाव कहेंगे।

कार्मिक प्रतिक्रिया के ये दोनों पक्ष - आन्तरिक अनुकूलन (प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया) और परिवेश से समन्वय (कर्म की परोक्ष प्रतिक्रिया) - दो

पहियों के समान हैं जिन पर विकासीय प्रक्रिया की गाड़ी चलती है। वे विकास के लिये अपरिहार्य है। विकास की गति इन्हीं के द्वारा नापी जाती है।

सूक्ष्म भौतिक स्तर पर इन दोनों पक्षों में स्पष्टतया भेद करना कठिन होता है। परन्तु एक परमाणु वाले हाइड्रोजन तत्व से परमाणुओं और अणुओं का विकास इस दोहरी प्रक्रिया का परिणाम अवश्य होगा। बाह्य उत्तेजना और आन्तरिक अनुकूलन, यही स्वाभाविक मार्ग स्थूल जगत, पशु जगत इत्यादि के विकास का होता है। हमें यह कहने का कोई आधार नहीं है कि सूक्ष्म भौतिक स्तर पर ऐसा नहीं होता।

जैसे-जैसे चैतन्य ऊर्जा क्रमशः ऊपर उठती है आन्तरिक अनुकूलन (प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया) स्पष्ट रूप से उभरता है और साथ ही परोक्ष प्रतिक्रिया भी। वनस्पति की अपेक्षा पशु प्रेम और क्रोध से प्रत्यक्ष रूप में अधिक प्रभावित होता है और मनुष्य उससे भी अधिक। इसके कारण हैं संवेदन शीलता की वृद्धि और भावनात्मक मन का आगमन। इन्द्रियकरणों और मन के विकसित हो जाने पर मनुष्य अपने परिवेश पर अधिक प्रभाव डाल सकता है। वह अपने परिवेश का शासक बनने की आकाँक्षा करता है जिससे वह अपने कर्मों के प्रतिफल से बच सके। इसके विपरीत अपनी निरन्तर बढ़ने वाली संवेदनशीलता से उसकी सामान्य प्रतिक्रियाओं की अनुभूति भी अधिक गहरी होती जाती है। दोनों प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रतिक्रियायें पूर्वले प्रभाव की अपेक्षा अब और अधिक प्रभाव डालती हैं। इसके परिणामस्वरूप उसमें शीघ्रता से परिवर्तन होता है और विकास की गति तीव्र हो जाती है।

प्राणिक स्तर पर कर्म एक जैवी बल है। वह जीव-देहों एवं सूक्ष्म भूतों के मध्य होने वाली प्राणिक ऊर्जा की अन्तःक्रीड़ा है। वनस्पति और पशु जो कुछ भी करते हैं सब कर्म है। उनके कर्मों की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया प्रभावपूर्ण होती है। सर्दी से बचने के लिए पेड़ मोटी छाल और नुकीली पत्तियाँ निकाल लेता है। एक जाति के पशु को शत्रु से लड़ना पड़ता है तो उसके चर्म में एक विशेष रंग उत्पन्न हो जाता है जिससे वह अपने को छिपा सके।

अपने जीवन से पौधा पृथ्वी और वायुमण्डल पर प्रभाव डालता है। अपने से अधिक तीव्रता से बढ़ने वाले पौधों से इसे लड़ना पड़ सकता है। अपनी साँस के साथ वह आक्सीजन निकालता है। माँस भक्षी पौधे अपना शिकार

पकड़ते और उसे मार डालते हैं। पशु जीवन में कर्म बहुत सीमित होता है। परिवेश की माँगें प्रतिक्रिया के द्वारा उसे परिवर्तन लाने के लिए उकसाती रहती हैं।

पशुओं का कर्म अधिक विस्तृत और गहन होता है। पशु एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकता है। वह अपना भोजन ढूँढ सकता है। अपनी सन्तान की रक्षा के लिये घोंसला बना सकता है। अपने बचाव के लिए वह भाग सकता है एवं इनके अतिरिक्त और भी अनेक कार्य कर सकता है।

जीवन के वनस्पति एवं पशु स्तर पर कर्म उपजाति में केन्द्रित रहता है। व्यक्तियों की ओर से कर्म की प्रतिक्रिया उपजाति पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में होती है और उपजाति ही विकसित होती है यद्यपि यह स्वभावत: व्यक्तियों के माध्यम से होता है। पौधों और पशुओं के स्तर पर वैयक्तिक कर्म सम्भव नहीं होता क्योंकि उनमें अभी तक वैयक्तिक इच्छा शक्ति का विकास नहीं हुआ होता। कर्म करने या न करने अथवा किसी एक या अन्य प्रकार के कार्य करने का चुनाव वह नहीं कर सकता। वह समूह मानस के हाथों का (जो उपजाति का मानस है) एक यन्त्र मात्र है और समूह मानस पर कर्म का उत्तरदायित्व रहता है।

तर्कशील मन (विवेकशील चेतना) में अभी तक उदय न होने के कारण शुभ और अशुभ की भावना उत्पन्न नहीं होती। प्राणिक क्रिया के सामने एक लक्ष्य होता है। इसका कार्य किसी लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निर्देशित होता है। पथ से भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता। नैसर्गिक चतुरता और निष्ठा के साथ यह अपना कार्य करता रहता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रतिक्रियायें अधिक प्रबल होती जाती हैं जिससे विकास की गति अधिक तीव्र होती जाती है। प्रसन्नता और पीड़ा तो होते हैं परन्तु उनका कोई नैतिक अर्थ अभिप्रेत नहीं होता। उनका तात्पर्य मात्र जैविक होता है। वे कर्म के लिए हरी और लाल झंडी की भाँति हैं। वे क्रमश: जीवन और मृत्यु के पथ के मार्गदर्शक चिन्ह हैं।

विकासक्रम में कर्म अधिक जटिल होता जाता है। सूक्ष्म भौतिक स्तर में यह केवल मौलिक या भौतिक बल होता है। प्राणिक स्तर में यह जैवी बल बन जाता है और भौतिक भी। एक पौधा गिरता है और किसी जीव को मार देता है। पौधे पर वायु की प्रतिक्रिया होती है। पशु भागता है अपनी जान

बचाने के लिये, अथवा अपने शिकार का पीछा करने के लिये। भौतिक बल के प्रयोग से होने वाले ये भौतिक कार्य हैं। मानुषी स्तर पर कर्म का रूप इससे अधिक विस्तृत हो जाता है। मनुष्य भोजन करता है। यह भौतिक क्रिया है। उसे पचाना पड़ता है, यह जैवी कर्म है। भोजन करना उसे रुचिकर हो सकता है और अरुचिकर भी। भोजन के प्रति उसकी यह मानसिक प्रतिक्रिया है। इनमें भावनात्मक और बौद्धिक क्रियायें सम्मिलित हैं। इस प्रकार भोजन करने का सरल कार्य इतना जटिल कर्म बन जाता है। सभी स्तरों के बल अपना प्रभाव दिखाते हैं।

इसका विस्तृत प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। मनुष्य को भोजन अप्रिय लगता है और उसमें घृणा का संवेदन उत्पन्न होता है। वह भोजन निगलने लगता है। इसका प्रभाव उसकी पाचन क्रिया पर होता है क्योंकि घृणा का संवेदन उसके मेदे में पाचक रसों का स्राव रोक देता है। उसका शरीर-तन्त्र बिगड़ जाता है। वह भोजन के लिए निमन्त्रण देने वाले को दोष देता है। इस प्रकार क्रियायें और प्रतिक्रियायें होती हैं। एक सरल क्रिया किस प्रकार मानुषी स्तर पर सरल क्रिया नहीं रह जाती !

परोक्ष प्रतिक्रिया भी बहुत जटिल होती है। मनुष्य ने कुछ खाया है। परोसे हुए भोजन को तैयार करने में उसने अगणित व्यक्तियों का आभार अपने ऊपर लिया है। भूमि जोतने वाले, उसके लिये हल बनाने के लिये धरती खोदकर लोहा निकालने वाले खनिक से लेकर बैरे तक जो भोजन प्रस्तुत करता है, एक बड़ी संख्या में लोगों ने भोजन तैयार करने में योग दिया है। भोजन का कौर खाकर वह इन सभी से सम्बद्ध हो जाता है।[1]

दूसरों के प्रति घृणा करके मनुष्य केवल अपना ही अहित नहीं करता वरन् वायु मण्डल को भी दूषित करता है। उसमें साँस लेने वालों को वह हानि पहुँचाता है। इस प्रकार कर्म सभी मनुष्यों को (वास्तव में पशुओं, पौधों और सूक्ष्म भूतों को भी) एक जटिल जाल में बाँध देता है। कोई भी अकेला नहीं रह सकता। यह अनुमान भली-भाँति लगाया जा सकता है कि क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं और आभार तथा प्रत्याभार की अन्तहीन श्रृंखला का प्रारम्भ

---

1. प्राप्त होने वाली वस्तु का मूल्य देकर यह हिसाब चुकता नहीं हो सकता। जिस प्रकार दूसरे लोगों ने उसके लिए कार्य किया है वैसे ही उसे भी दूसरों के लिए कार्य करना पड़ेगा। कर्म के सन्दर्भ में केवल द्रव्य का कोई मूल्य नहीं है।

किस प्रकार होता है। हमारे बोध को अधिक उन्नत, संवेदन को अधिक गहन और संकल्प को अधिक दृढ़ करते हुए ये हमारी चेतना के विकास में सहायक होते हैं।

मानुषी स्तर पर कर्म नैतिकता का रंग ले लेता है। शुभ और अशुभ में विवेक करने वाली बुद्धि का जन्म होता है। इसके साथ सचेतन इच्छा शक्ति विकसित होती है। एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वह स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकता है। कार्य उसी में केन्द्रित होता है वह चाहे कार्य करे या न करे। वह कर्म की एक या दूसरी विधि चुन सकता है। अब विकास की शक्तियों का लक्ष्य उतना सरल नहीं रह जाता जैसा पशु जीवन में था। मनुष्य विकास की योजना का मूल्य समझ सकता है। वह अपने कार्यों के परिणामों को समझ सकता है। वह अपनी प्रगति तीव्र करने में अपनी सहायता कर सकता है या चाहे तो पिछड़ सकता है। वह अपने भाग्य का निर्माता बन गया है। कर्म के द्वारा मनुष्य की सृजनात्मक इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। आवश्यक धैर्य, समय और प्रयास के द्वारा मनुष्य अपने वाँछित लक्ष्य के अनुरूप उन्नति कर सकता है। वह सर्वातीत सत्ता के साथ, स्वयं भगवान के साथ, युक्त हो सकता है।

कर्म की अपना रूप परिवर्तन करने की क्रिया का अध्ययन रोचक है। मानसिक स्तर पर इसे समझना सरल है। मनुष्य शरीरों में कर्म एक कम्पन के रूप में, सामान्यतया संयुक्त कम्पन के रूप में, प्रकट होता है। यह कम्पन शरीर में उसी स्तर के वायु मण्डल से द्रव्य संचित करता है जिसका कम्पन उससे मेल खाता है। क्रोध उस द्रव्य को ग्रहण करता है जो तार्किक शरीर में क्रोध से सहचार[1] करने की क्षमता रखता है और प्रेम अपने स्वभाव के अनुरूप द्रव्य ग्रहण करता है। धीरे-धीरे यह द्रव्य इकट्ठा हो जाता है। मनुष्य में क्रोध या प्रेम की आदत पड़ जाती है। विचार इसका नेतृत्व करता है। पूरे जीवन का नियमन करने की इसकी प्रवृत्ति होती है। सशक्त इच्छा शक्ति के संयोग से यह शीघ्र ही सम्पूर्ण जीवन का रूप बदल सकता है। इसी प्रकार सूक्ष्मतर स्तरों पर भी रूप परिवर्तन के लिये कर्म का महत्व है।

नैतिकता का जन्म मनुष्य के अपने विकास में भागीदार होने की घोषणा है। वह पौधों और पशुओं की भाँति विकासीय शक्तियों द्वारा विवशता में

---

1. (समान स्तर पर) प्रतिक्रिया, प्रत्युत्तर

हाँका नहीं जाता। उसे गल्ती करने और कष्ट सहने का अधिकार है और विकास की गति को तीव्रतर करने का भी। इससे कर्म में एक और जटिलता आती है। उसे अपने कार्यों के चुनाव करने में कर्म की सामाजिक प्रतिक्रिया को भी अब ध्यान में रखना होता है।

मानवीय कर्म के विभिन्न पक्ष एक दूसरे से नितान्त अछूते नहीं रक्खे जा सकते। जैसे हमारे विभिन्न शरीर मन के माध्यम से एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं उसी प्रकार कर्म के विभिन्न पक्ष भी। हमारे विचारों का प्रभाव हमारी भावनाओं पर होता है। किसी परिस्थिति के सुखकर पक्ष को देखकर हम आशान्वित होते हैं और अन्धकार युक्त पक्ष को देखकर हमें निराशा होती है। इसी प्रकार हम दूसरों से घृणा और प्रेम करते हैं। हमारी भावनायें हमारे विचारों को भी प्रभावित करती हैं। अपने प्रियजनों की त्रुटियाँ हम क्षमा के योग्य समझते हैं परन्तु दूसरों की नहीं। हमारी भावनाओं और विचारों की पद्धतियाँ हमारे भौतिक शरीर को प्रभावित करती हैं और उसका उलटा भी होता है। घृणा से वात रोग उत्पन्न होता है। चिन्ता से रक्तचाप रोग बढ़ता है और अमाशय में व्रण पैदा हो जाते हैं। बिगड़े हुये गुर्दे से चिड़चिड़ाहट पैदा होती है और उद्विग्न नाड़ियों से भी। कर्म में मनुष्य का व्यक्तित्व एक समन्वित इकाई की भाँति कार्य करता है। व्यक्तित्व पर कर्म की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया की दशा में ऐसा होता है और अप्रत्यक्ष प्रतिक्रिया से भी। बाहरी प्रतिक्रियायें समग्र पर प्रभाव डालती हैं। यदि शरीर को चोट लगती है तो मन पर प्रभाव पड़ता है और मन की चोट से शरीर पर।

मनुष्य के पूर्व के स्तरों पर कर्म का रूप अवैयक्तिक होता है। मानवीय संकल्प के विकसित होने पर यह वैयक्तिक हो जाता है और एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व का उदय हो जाता है। अब उसका परिवेश व्यक्तित्वहीन ही नहीं रह जाता वरन् वैयक्तिक भी हो जाता है। उसको अपने समान मनुष्यों से व्यवहार करना पड़ता है। वह प्रेम और घृणा करता है और बदले में दूसरे लोग भी उससे प्रेम और घृणा करते हैं। राग और घृणा व्यक्तियों को बड़ी घनिष्टता से बाँध देते हैं। जन्मजन्मान्तर में वे उन्हें खींचकर समीप ले आते हैं जब तक वे शान्त न हो जायें। जहाँ तक कर्म की अप्रत्यक्ष प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है उनका योग महत्वपूर्ण होता है।

इच्छा से और भी अधिक जटिलता उत्पन्न होती है। अपनी लचीली

परन्तु दृढ़ रज्जुओं से इच्छा व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियों से और उन पदार्थों से जिससे उसकी तुष्टि होती है, बाँध देती है। मनुष्य के हृदय में यह अनजाने उत्पन्न होती है। विचार से पोषित होकर उसमें अंकुर निकलता है। समय पाकर उसमें जड़ें निकलती हैं और वटवृक्ष की भाँति वह विशालकाय होकर बढ़ता है। अपनी शाखाओं से यह नई जड़ें फैलाता है जो नई इच्छाओं के रूप में फिर पनपती हैं। इस प्रकार बारबार उसकी वृद्धि होती रहती है। इच्छा मनुष्य को कर्म में प्रेरित करती है और उसकी निकृष्ट प्रकृति को उत्तेजित करती है। यह उसे पागल कर देती है जिससे अगणित जटिलतायें उत्पन्न हो जाती हैं।

खण्ड 2

अब हम कर्म के सिद्धान्त पर आते हैं। इसका सम्बन्ध कर्मफल के विधान[1] से है। यह मानुषी और पूर्व-मानुषी दोनों वर्गों पर समान रूप से लागू होता है। पूर्व-मानुषी स्तर पर सुख और दु:ख का उतना महत्व नहीं है जितना मानुषी स्तर पर और न उसमें नैतिक निहितार्थ[2] ही रहते हैं।

कर्म विकास के लिये होता है और विकास की प्रक्रिया के अनुरूप ही इससे फल मिलते हैं। यह मानवीय सिद्धान्त के तुल्य[3] नहीं है जिसका उल्लंघन किया जा सकता है, और न न्याय और दया की संकुचित मानवीय धारणायें ही इसे नियन्त्रित करती हैं। इसका एक लक्ष्य होता है और वह है विकास। और सब कुछ इसी के अधीन है।

विकास की प्रक्रिया एक सुसंचालित और बुद्धिमत्तापूर्ण प्रक्रिया है। कर्म का फल भोग भी एक उत्कृष्ट कोटि की विकसित चेतना द्वारा निर्धारित किया जाता है। वह कर्म का सर्वज्ञ अधिष्ठाता है जिससे त्रुटि नहीं होती। उसके सामने भूत, भविष्यत और वर्तमान खुली हुई पुस्तक के समान रखे हुये हैं। कर्म फल प्राप्ति सम्बन्धी सभी घटक उसके लिए स्वत: स्पष्ट हैं। उसके साधन और उसकी समझ कभी विफल नहीं होते। अनोखी विधियों से वह कर्मफलों का विधान करता है जिससे विकास की प्रक्रिया को भी सहायता मिलती जाती है।

---

1 नियम, तरीका 2. छिपे हुए अर्थ (meainng) 3. समान

कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म की सत्यता मनुष्य जीवन की परिस्थितियों की विभिन्नता पर प्रकाश डालते हैं। कुछ व्यक्ति जन्म से ही बुद्धिमान होते हैं और दूसरे मूर्ख। कुछ बलशाली और सुन्दर होते हैं जबकि दूसरे रोगी और कुरूप। कुछ जन्म से ही शिष्ट होते हैं जबकि दूसरे कुटिल। धनी और गरीब, बुद्धिमान और मूर्ख, सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इस विविधता का अन्त नहीं है। इन सबका स्रोत कहाँ है? चैतन्य-ऊर्जा के रूप में उसी एक सर्वातीत सत्ता से उत्पन्न होने वालों में इतनी विभिन्नता कहाँ से आ जाती है?

समूह मानस की प्रत्येक इकाई का अपना भिन्न परिवेश होता है। अपने विशिष्ट परिवेश में विशेष अनुभव से गुजरने वालों के कर्म भी अलग-अलग होते हैं। कुछ व्यक्ति मनुष्य-वर्ग में दूसरों की अपेक्षा पहले आ पहुँचते हैं। यह बात प्रारम्भिक अन्तर का कारण है जो बहुत स्पष्ट नहीं होता। आदिम जातियों में इतनी अधिक विभिन्नता नहीं होती जितनी सभ्य जातियों में क्योंकि सभ्य जातियों के व्यक्ति आदिम जातियों के व्यक्तियों की अपेक्षा मानवीय विकास के अधिक विस्तृत क्षेत्र में से गुजर चुके होते हैं। आत्मचेतना के प्रकट होने से कर्म में बहुत अधिक विविधता आ जाती है और उसकी प्रतिक्रियायें अधिक गहरी होती हैं। इसी से विभिन्नतायें बढ़ती जाती हैं।

कर्म का फैलाव एक जन्म से दूसरे जन्म तक होता है। मृत्यु एक पड़ाव की भाँति आती है। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है मृत्यु से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अपने कार्मिक अनुभवों को आत्मसात[1] करके मनुष्य मानो नये साँचे में ढलकर वापस आता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व पर जन्म जन्मान्तर में अधिक गहरा रंग चढ़ता जाता है।

कर्म के सिद्धान्त का उद्देश्य दण्ड देना नहीं है। विकास में सुख और दुःख का कोई मूलभूत महत्व नहीं है। यद्यपि उनका अनुभव आवश्यक है पर वे क्षणिक हैं। ऐसी ही बात शुभ और अशुभ के विषय में है। प्रज्ञान की, और अन्त में प्रेम और ईश्वरत्व की उपलब्धि[2] के लिये मनुष्य को सभी अनुभवों से गुज़रना है। सिद्धान्त शिक्षा देने वाला है। सुख से भी तथा दुःख से भी हम सीखते हैं। वे क्रम से हमारी चेतना को विस्तृत और गहरी बनाते

1. अपने में समेट कर
2. प्राप्ति

हैं। कष्ट भोगने से हम अशुभ को समझ पाते हैं और सहानुभूति करना सीख पाते हैं।

अब हम देखेंगे कि कर्म का सिद्धान्त किस प्रकार कार्य करता है।

भावनाओं और विचारों में दूसरे व्यक्तियों में वैसी ही भावनायें एवं विचार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। जहाँ उन्हें अनुकूल माध्यम मिलता है वहाँ वे ऐसा करने में सफल होते हैं।[1] भावनायें और विचार एक प्रकार का व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करते हैं। समान भावनायें और विचार जब दूसरों में[2] उत्पन्न किये जाते हैं तो उसको भी प्रभावित करते हैं जिससे वे मूलत:[3] निकले थे। एक उदाहरण लीजिये। एक लहर किनारे से टकराती है और जहाँ से चली थी वहीं लौट जाती है तथा इस प्रकार मूल[4] लहर की ऊर्जा को समाप्त कर देती है। इसी प्रकार प्रत्येक भावना या विचार लहर की तरह है जो समान माध्यम में अपने को पुन: उत्पन्न करती है और मूल कार्य की ऊर्जा को नष्ट करती हुई आरम्भ करने वाले कर्त्ता के पास लौट जाती है। यह प्रक्रिया चलती रहती है जब तक कि मूल कर्म की ऊर्जा पूर्णतया नष्ट न हो जाये और माध्यम अपना सन्तुलन फिर से न प्राप्त कर ले, जिस प्रकार कि लहरें और प्रति लहरें उठती रहती हैं जब तक कि मूल कर्म (जैसे पानी में पत्थर फेंकना) की ऊर्जा नष्ट होकर पानी का अपना धरातल फिर न स्थापित हो जाये।

गति का तीसरा सिद्धान्त है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिकूल दिशा में उतनी ही प्रतिक्रिया होती है। क्यों? कारण यह है कि प्रत्येक क्रिया में, माध्यम में अपने को पुन: उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। माध्यम प्रतिक्रिया

---

1. वे सदा सफल नहीं होते। घृणा या प्रेम करके हम प्रत्येक मनुष्य को अपने से घृणा या प्यार करने के लिे बाध्य नहीं कर सकते। दूसरा मनुष्य ऐसा करता है यदि उसमें उस मात्रा में ऐसा करने की प्रवृत्ति है। - लेखक
2. दूसरों के हितार्थ प्रायश्चित की सम्भावना रहती है परन्तु विरले ही। यह तभी सम्भव होता है जब प्रायश्चित करने को उद्यत व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिये उसी क्षेत्र में (प्रार्थना इत्यादि के द्वारा) मानसिक संकल्प के स्तर से ऊँचे उठने में समर्थ होता है। सन्तों के अतिरिक्त हमें इस प्रकार के कुछ ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। हुमायूँ के लिये बाबर द्वारा किया गया प्रायश्चित भली-भाँति विदित है। - लेखक
3. आरम्भ में
4. प्रारम्भिक

करता है क्योंकि उसे सन्तुलन स्थिर रखना है। यह स्वाभाविक है कि प्रतिक्रिया उद्वेग उत्पन्न करने वाले घटक के बराबर होनी चाहिये और तब तक चलती रहनी चाहिये जब तक कि मूल कर्म की ऊर्जा पूर्णतया समाप्त न हो जाय। क्योंकि उसी दशा में माध्यम का सन्तुलन फिर स्थापित हो सकता है। यह कर्म के सिद्धान्त की कुंजी है।

अब हम उस काल के विषय में विचार करेंगे जब कर्म फल प्राप्त होता है। भौतिक संसार में प्रतिक्रिया तत्काल होती है। विशेष रूप से की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त यह रोकी नहीं जा सकती। परन्तु प्राणिक संसार में ऐसा नहीं होता। प्राणी केवल अनुकूल परिस्थितियों में प्रतिक्रिया करता है और उसी मात्रा में जितनी की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये, हम धूम्रपान[1] करने का प्रयास करते हैं। शरीर विष के विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है और चक्कर, वमन, सरदर्द इत्यादि उत्पन्न करके इसको निकाल फेंकने का प्रयत्न करता है। परन्तु यदि हम धूम्रपान जारी रखते हैं तो शरीर चुपचाप अधीनता स्वीकार कर लेता है। फिर वह इस प्रकार प्रतिक्रिया नहीं करता। वह विष को अंगीकार कर लेता है। जब हम धूम्रपान छोड़ते हैं तब वह फिर प्रतिक्रिया करता है। तब उसी तरह के लक्षण फिर उभरते हैं। शरीर एक रोग को तब तक दबाये रखता है जब तक उससे अधिक भीषण रोग अपनी अवधि[2] पूरी नहीं कर लेता। प्राणिक जीवन के पीछे एक सूझबूझ[3] होती है जो एक उद्देश्य के लिए कार्य करती है।

भावनात्मक और तार्किक मनों की प्रतिक्रिया और अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होती है। अपने सम्मान[4] के पात्रों के सामने हम अपने क्रोध को रोके रखते हैं। किसी महान व्यक्ति की पवित्र उपस्थिति में या दु:ख के वशीभूत होने पर कामुकता स्वत:[5] शान्त हो जाती है। किसी प्रबल व्यक्तित्व के सामने हमारा तर्क पंगु[6] हो जाता है क्योंकि तब उसका प्रदर्शन करना मूर्खता होगी। परन्तु उस मनुष्य के सामने यह अपनी पूरी शक्ति के साथ उभरता है जिसको हम अपने वश में कर सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि शोक कई दिनों तक दबा पड़ा रहता है जब तक कि उसको व्यक्त करने के लिये अनुकूल अवसर न मिल जाय। बदला सदैव तुरन्त ही नहीं चुकाया जाता।

---

1. बीड़ी सिगरेट पीना
2. समय
3. समझ, विवेक
4. आदर
5. अपने आप, मशीन की भाँति
6. लंगड़ा, दुर्बल

तब इसमें आश्चर्य ही क्या यदि कर्म का फल तत्काल न मिले। अपने परिपाक[1] के लिये इसे कई जीवनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। कर्म का सिद्धान्त अन्धा नहीं है और न ही यह केवल यान्त्रिक है। कर्म को विकास के लिये काम करना है। कर्म परिपाक में व्यक्ति की विकासीय आवश्यकता का विचार ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। किसी कर्त्ता को उसके कर्म का फल तभी मिलेगा जब उसका फल कर्त्ता के विकास की आवश्यकता के पूर्ण अनुकूल होगा। यदि उसे इस प्रकार के अनुभव की आवश्यकता है (जो कर्म फल के रूप में उसे प्राप्त होना है) तो उसे वह मिलेगा। यदि ऐसा नहीं है तो उसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

अब हम कार्मिक सिद्धान्त से उत्पन्न कुछ समस्याओं पर विचार करेंगे।

प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में महत्व कर्म का है या कर्म के बाहरी परिणाम का? एक व्यक्ति दूसरे की हत्या नहीं करना चाहता फिर भी दूसरा व्यक्ति मर सकता है। क्या वह व्यक्ति मानव-हत्या के कर्म का उत्तरदायी है? फिर, जीवन में कर्म बहुधा अपने उद्देश्य की पूर्ति कर भी नहीं पाता।

व्यक्ति के ऊपर कर्म की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया को उसके उद्देश्य के अनुरूप ही होना आवश्यक है। उसका संस्कार[2] उसके कर्म की मिश्रित प्रकृति से पूर्ण समरूप[3] होगा। कर्म का बाहरी परिणाम कर्त्ता के वश में नहीं है। वह अनेकों घटकों में केवल एक घटक है। इसमें दूसरे व्यक्ति के कर्म का भी महत्व है। कर्म की अप्रत्यक्ष प्रतिक्रिया में दूसरे घटकों का भी विचार करना पड़ेगा। जहाँ कर्म का अपेक्षाकृत अधिक या न्यून फल प्राप्त होता है वहाँ अन्य कार्मिक प्रभावों का होना अनिवार्य है। अपने कर्मों द्वारा उत्पन्न बल को हमें नि:शेष[4] (exhaust) करना पड़ेगा। किसी व्यक्ति द्वारा ऐसे कर्म के बल को नि:शेष करने का प्रश्न ही नहीं उठता जिसे उसने उत्पन्न नहीं किया।[5]

---

1. पकना, फल की भाँति
2. प्रत्यक्ष या परोक्ष की निहित प्रतिक्रिया को संस्कार कहते हैं। - लेखक
3. ठीक अनुरूप
4. पूरी तरह से मिटा देना, कुछ भी बाकी न बचे
5. अनैच्छिक कर्मों के कर्त्ता का उद्देश्य नहीं होता अत: वह कर्म द्वारा उत्पन्न किये गये बल का परिणाम नहीं है। विकास के दृष्टिकोण से यह उसका कर्म नहीं है।

   N.B. यदि बदला लेने का उद्देश्य वर्तमान है तो कर्म की पुनरावृत्ति स्वाभाविक है अन्यथा इच्छा कार्मिक बल के रूप में बनी रहेगी। - लेखक

"क्या कष्ट और सुख सदैव अतीत के कर्मों के फल हैं? दूसरों से द्वेष के कारण क्या हम उन्हें कष्ट नहीं दे सकते? क्या यह सदा ही आवश्यक है कि वर्तमान के कष्टों का कारण भूतकाल में किये गये उसके कर्म ही हों?" यह एक रोचक विचार है।

जहाँ हम क्रोध, घृणा, द्वेष के द्वारा कार्मिक बन्धनों का निर्माण करते हैं वहीं राग, सहानुभूति और सेवा के द्वारा भी ऐसा ही होता है। हम कार्मिक बन्धन निर्माण करते हैं जब इस प्रकार की व्यक्तिगत भावनायें वर्तमान रहती हैं। यह एक नया हिसाब है जिसे कभी न कभी चुकाना पड़ेगा। जब इच्छा न रहते हुये हम किसी को कष्ट देते हैं तब दायित्व हम पर नहीं होता। उसके पुरातन कर्म उसके कष्ट के कारण हैं।

कर्म की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया का महत्व सबसे अधिक है। इसके द्वारा हम अपने भाग्य को बना या बिगाड़ सकते हैं। जहाँ तक विकास का सम्बन्ध है सुखों या दु:खों का कोई प्रत्यक्ष मूल्य नहीं। हमारे ऊपर उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर ही उनका महत्व है।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि कर्म का सिद्धान्त कोरा भाग्यवाद[1] नहीं है। यह न्याय का अन्धा सिद्धान्त नहीं है। यह जीवन का एक जीवन्त सिद्धान्त है - कर्म के क्षेत्र में विकास की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति।

अब हम कर्म के सिद्धान्त पर उस कोण से विचार करेंगे जिसमें यह अतिमानुषी विकास के हितार्थ प्रभावी होता है।

खण्ड 3

कर्म की उपयोगिता पर आपत्ति उठ सकती है। बन्धन बने ही क्यों जब आखिरकार उन्हें ढीले ही करना होगा? क्योंकि कार्मिक बन्धनों को, दबाव और परेशानियों को झेले बिना चैतन्य-ऊर्जा मानुषी स्तर तक भी नहीं उठ सकती, उसके ऊपर की तो बात ही क्या। कर्म चेतना को जाग्रत करता है। यह मनुष्य के सृजनात्मक संकल्प को जागृत करता है। यह उसमें दायित्व की भावना को जगाता है। यह सब आवश्यक है आगे के मार्ग के लिये,

1. एक विचारधारा जिसके अनुसार जीवन की प्रत्येक घटना पूर्व निर्धारित मानी जाती है और मनुष्य भाग्य के हाथों में एक असहाय पुतला माना जाता है। - लेखक

मानुषी स्तर से ऊपर उठने के लिये। दिव्य (divine) बनने के पूर्व हमारे लिये मनुष्य बनना अनिवार्य है।

अब हम यह देखेंगे कि कर्म का वही सिद्धान्त जिसने व्यक्ति को बन्धन में डाला था, उसकी मुक्ति के लिये किस प्रकार कार्य करता है।

वैयक्तिक भावना से प्रेरित कर्म साधारण रीति से नि:शेष नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सम्बन्धित दो व्यक्तियों को फिर से आपसी सम्पर्क में आना ही होगा पूर्व इसके कि उनका हिसाब चुकता हो सके और एक दूसरे के साथ वे सामान्य स्थिति में आ सकें। यह आवश्यक नहीं कि चोट के बदले चोट खानी पड़े। यह अनिवार्य नहीं कि जिस व्यक्ति की हत्या की गई है वह किसी दूसरे जन्म में हत्यारे की हत्या करे। इस प्रकार बन्धन का विच्छेद नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से साधारणतया मनोमालिन्य उत्पन्न होता है, अत: कर्म की आवृत्ति होती है। [1]

कर्म बन्धन काटने के लिये दोनों व्यक्तियों को एक दूसरे को क्षमा करना ही पड़ेगा। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक अपनी गलती अनुभव करे और दूसरे की सीमाओं को समझे। और यह तभी सम्भव होगा जब दोनों इतना विकास कर चुके हों कि वे उचित और अनुचित में विवेक कर सकेंगे। उनको विकास के सिद्धान्त को समझना होगा और उचित मूल्यों पर आस्था रखनी होगी। इसके लिये अनेक जीवन कालों की आवश्यकता होती है, और अधिकाधिक समर्पण के प्रचुर अनुभव की। राग के विषय में भी यही लागू होता है। राग [2] (साँसारिक प्यार के रूप में) व्यक्तियों को परस्पर बाँधता है। गाँठ खोलने का जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है, बन्धन उतना ही सुदृढ़ और कड़ा होता जाता है। उपकार का बदला चुकाने से आकर्षण नि:शेष नहीं हो जाता। इससे वस्तुत: आकर्षण बढ़ता है क्योंकि शुभ कर्म अधिक शुभ कर्मों का आवाह्न करते हैं और बन्धन की डोर अधिक गुँथ जाती है।

व्यक्तियों के बीच की दूरी से राग की चेतना का भान होता है। घनिष्ठता से यह चेतना धुँधली पड़ जाती है परन्तु यह समाप्त नहीं होती। अधिकतर राग और घृणा साथ-साथ रहते हैं। हम किसी व्यक्ति से अनुराग करते हैं

---

1. इसे प्रवृत्ति कहते हैं, आगे बढ़ना। इसका उलटा है निवृत्ति, वापस होना। - लेखक
2. आसक्ति (attachment), मोह

परन्तु उसे पूर्णतया स्वीकार नहीं कर पाते क्योंकि हमें उसके अवगुण दिखते हैं। हम उससे बहुत सी आशायें करते हैं और बहुत बार आशाओं के विफल होने पर बुरा मान जाते हैं। दो व्यक्तियों के इकट्ठे होने से बन्धन और जटिल हो जाता है।

केवल उच्चस्तरीय चेतना का विकास ही हमें मुक्ति दिला सकता है। हमें मानसिक चेतना से प्रज्ञान चेतना में उठना होगा जो सबको समभाव से देखती है और उसी समता से उनसे व्यवहार करती है। प्रज्ञान चेतना के उदय होने पर सभी राग, द्वेष और रोष नष्ट हो जाते हैं। व्यक्ति कर्म बन्धन से तभी मुक्त हो सकता है जब वह मूल रूप से बाँधने वाली अहंकार भावना के ऊपर उठ जाता है। मानसिक स्तर से ऊपर उठने पर कर्म अहंकार रहित हो जाता है। इसमें कर्तृत्व नहीं रह जाता, अत: यह कर्ता को बन्धन में नहीं डाल सकता।[1]

चेतना का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया है। अनेक बार कार्मिक दबाव उसके उत्कर्ष के मार्ग में रुकावट डालता है। राग के कार्मिक बन्धन दृष्टि को इतना ढक लेते हैं कि उच्चतर प्रकाश को प्रकट होने में विलम्ब होता हैं। विकास की एक अवस्था[2] तक हम बन्धनों का सृजन करते जाते हैं और अधिकाधिक कर्म की कड़ियों का निर्माण करते जाते हैं। जब हमें अपनी दयनीय स्थिति का ज्ञान होता है तो हम उस ओर से मुँह मोड़ लेते हैं। तब हम कामना का त्याग करते हैं। हम उच्चतर प्रकाश की आकाँक्षा करते हैं।

---

1. कर्म जब वैयक्तिक होता है तभी बाँधता है। - लेखक
2. न्यायाधीश दण्ड देता है। माँ बच्चे को सुधारने के लिये ताड़ना करती है। अध्यापक छात्र से अधिक परिश्रम कराने के लिये उसे डाँटता है। उन सबका विचार शुद्ध है परन्तु उनका शारीरिक कर्म पीड़ादायक है। यह किस प्रकार का कर्म है? उसका क्या फल होगा? न्यायाधीश केवल अपना कर्तव्य निभा रहा है। अपराधी को दण्ड देने में वह अपनी व्यक्तिगत भावनाओं अथवा विचारों से प्रभावित नहीं होता। जहाँ तक वह कर्तव्य की भावना से अपना कर्त्तव्य पालन करता है वहाँ तक वह अछूता रहता है। दण्ड देने का कर्म उसे बाँध नहीं सकता। माँ भी उस मात्रा में कर्म बन्धन से मुक्त रहती है जहाँ तक कर्त्तव्य की भावना काम करती है। जिस मात्रा तक उसमें चिढ़ होती है या उसका व्यक्तिगत भाव रहता है वहाँ तक बह बन्धन में पड़ती है। कर्म उसको बाँधता है। वह शारीरिक कर्म (कष्ट पहुँचाना) के लिये और मानसिक कर्म (शुभ भावना) के लिए उत्तरदायी है। - लेखक

बन्धन टूटने लगते हैं। कोई नये बन्धन नहीं बनते। पुराने बन्धन धीरे-धीरे शिथिल हो जाते हैं। यह तभी होता है जब व्यक्ति प्रज्ञान में प्रवेश के लिये तैयार हो जाता है। परन्तु व्यक्ति को प्रज्ञान में पूर्णतया प्रतिष्ठित होने के लिये सभी कार्मिक बन्धनों को तोड़ना ही होगा। उसको भीतर बाहर स्वच्छ होना ही होगा। कर्मों के अवसान की और प्रज्ञान के आगमन की प्रक्रियायें साथ-साथ होती हैं। वास्तव में वे एक ही प्रक्रिया, विकास, के दो पहलू हैं।

विकास के लिये इच्छा एक महान् शक्ति है। संकल्प की सहायता से यह परिस्थितियों का निर्माण करती है। यह व्यक्ति को बन्धन में डालती है जो इसकी सन्तुष्टि करके या इसका त्याग करके ही मुक्त हो सकता है। इच्छा जब नई होती है तब इसका त्याग हो सकता है। बाद में इससे मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय इसकी सन्तुष्टि करके इसको समाप्त करना ही है। इससे नये कर्मों का उदय होता है ओर जो व्यक्ति मानसिक स्तर से ऊपर उठ गया है और कर्ता के अभिमान से रहित हो कर कर्म करने की क्षमता रखता है उसको यह अधिक दृढ़ता से बाँधती है।[1]

शुभ और अशुभ कर्म एक दूसरे को निरस्त[2] नहीं करते। वे विभिन्न कोटि के बल हैं और एक दूसरे के द्वारा सुधारे नहीं जा सकते। हमारे प्यार और घृणा एक दूसरे को निरस्त[3] कर उदासीनता की स्थिति नहीं उत्पन्न करते। उल्टे वे जटिलतायें उत्पन्न करते हैं। वास्तव में कर्म प्रत्येक स्तर पर अपनी अवधि पूरी करता है। साधारण रीति तो यह है कि कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिये व्यक्ति को उससे ऊपर उठना होगा। व्यक्ति को प्रज्ञान स्तर तक उठना होगा जहाँ अहंकार का अतिक्रमण हो जाता है और कर्म बाँधता नहीं। वहाँ शुभ और अशुभ दोनों का लोप हो जाता है। उसी दशा में कर्म सहज होता है।

कर्म एक प्रबल शक्ति है। व्यक्तिगत भावानाओं और इच्छा के संयोग से यह जटिलताओं का निर्माण करती है, क्षमताओं की वृद्धि करती है तथा शालीनता को उत्पन्न करती है। जिन बन्धनों को इसी ने गढ़ा था उनको यह कर्तव्य भावना से संयुक्त होकर काटती है या सर्वातीत सत्ता की पूजा के रूप

---

1. किसी कर्म के बुरे शारीरिक पक्ष का प्रायश्चित एक अच्छे मानसिक दृष्टिकोण के द्वारा नहीं होता। ऐसा अध्यापक के विषय में भी लागू होता है।
2. अस्तित्व को मिटाकर

में करते हुये अथवा बाद में उसको समर्पण करके काटती है। तब वह कर्म अवैयक्तिक हो जाता है। उस दशा में यह नये बन्धनों का निर्माण नहीं करता। जो कुछ भी व्यक्तिगत या सीमित होता है उससे यह व्यक्ति को मुक्त कर देता है और उसे प्रज्ञान की ओर बढ़ाता है। कर्म से वह नैषकर्म्य[1] की स्थिति तक पहुँच जाता है। क्रिया होती है परन्तु संस्कार नहीं बनता अत: बन्धन नहीं होता।

प्रज्ञान निर्दोष क्रिया की अवस्था है।

1. कर्म करते हुए भी अकर्ता रहना (लेखक की गीता विमर्श देखिये)

मनुष्य का प्यार 'मैं' और 'मेरा' पर केन्द्रित रहता है परन्तु दिव्य प्रेम अहंकार का अतिक्रमण करता है। दिव्य प्रेम में सभी कुछ दिव्य हो जाता है और सभी प्राणी ईश्वर के हो जाते हैं। दिव्य प्रेम एकरस है। यह बढ़ता ही रहता है परन्तु कभी घटता नहीं। यहाँ कुटिलता की कल्पना तक नहीं हो सकती। जब यह दिव्य प्रेम जगता है, तब द्वैत का अन्त हो जाता है। प्रेम और प्रभु एक हो जाते हैं और इस परम ऐक्य में जीव अपनी वैयक्तिक सत्ता खो देता है। प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम मिलकर त्रिपक्षी ऐक्य बनाते हैं, तीनों में एक समाविष्ट। प्रेम को किस पुरस्कार की आकाँक्षा हो सकती है? वह स्वयं में ही परम पुरस्कार और अनन्त उपलब्धि है। प्रेम ईश्वर है और ईश्वर प्रेम है।

– स्वामी रामानन्द